वर्ष 5, अंक 19, जुलाई-2019
आषाढ़, वि. सं. 2076, ₹ 50

मंगल विमर्श त्रैमासिक

वादे वादे जायते तत्त्वबोधः

अंदर के पृष्ठों पर

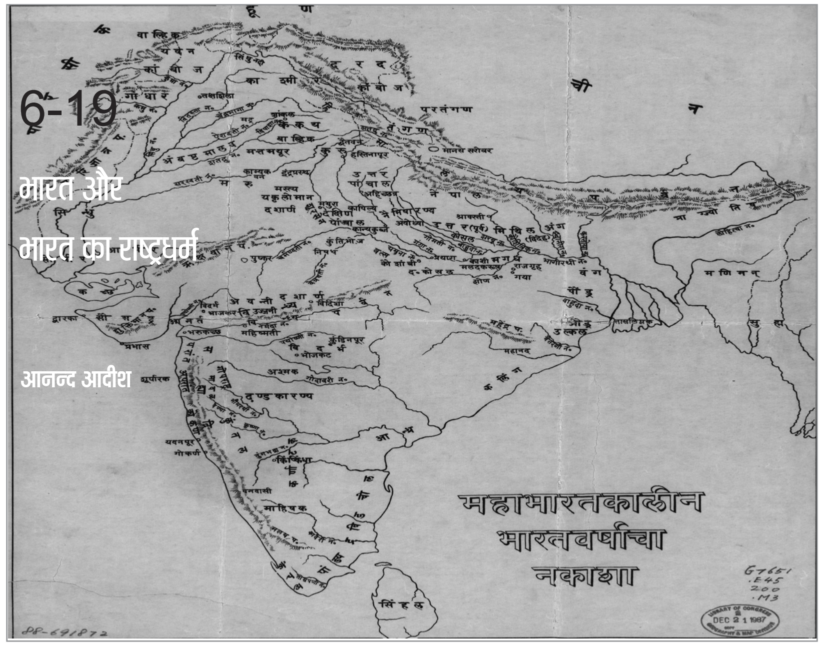

6-19
भारत और
भारत का राष्ट्रधर्म
आनन्द आदीश

20-33
प्राचीन भारतीय
आर्थिक चिंतन
ओम प्रकाश मिश्र

34-41
अयोध्या : अनिर्णय और अस्थिरता की स्थिति बनाने का षड्यंत्र
हरिकृष्ण निगम

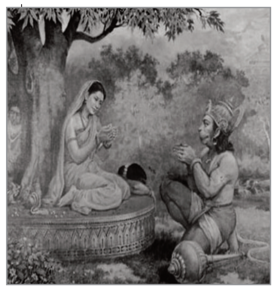

42-49
प्रेरक हैं राम काव्य में नारी चरित्र
शंकर लाल माहेश्वरी

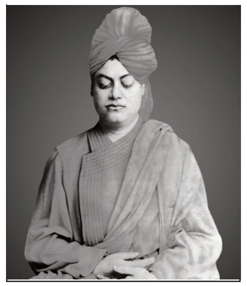

50-55
राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के अग्रदूत : स्वामी विवेकानंद
डॉ. चंदन कुमारी

56-62
चलें वैर से अवैर की ओर
सीता राम गुप्ता

मुख्य संरक्षक
डॉ. बजरंग लाल गुप्ता
प्रधान संपादक
ओमीश परुथी
संपादक
सुनील पांडेय
संयुक्त संपादक
डॉ. रवींद्र अग्रवाल
प्रबंध संपादक
आदर्श गुप्ता

प्रकाशक, मुद्रक एवं संपादक आदर्श गुप्ता द्वारा मंगल सृष्टि, सी-84, अहिंसा विहार, सेक्टर-9, रोहिणी, दिल्ली- 110085 के लिए प्रकाशित एवं एक्सेल प्रिंट, सी-36, एफ एफ कॉम्पलेक्स, झंडेवाला, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।

RNI
DELHIN/2015/59919
ISSN
2394-9929
ISBN
978-81-935561-7-7
फोन नं.
+91-9811166215
+91-11-42633153
ई-मेल
mangalvimarsh@gmail.com
वेब साइट
www.mangalvimarsh.in

मंगल विमर्श पत्रिका में व्यक्त विचारों के लिए रचनाकार स्वयं उत्तरदायी हैं। संपादक, मुद्रक व प्रकाशक का उनसे सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

सभी विवादों का न्याय क्षेत्र केवल दिल्ली होगा।

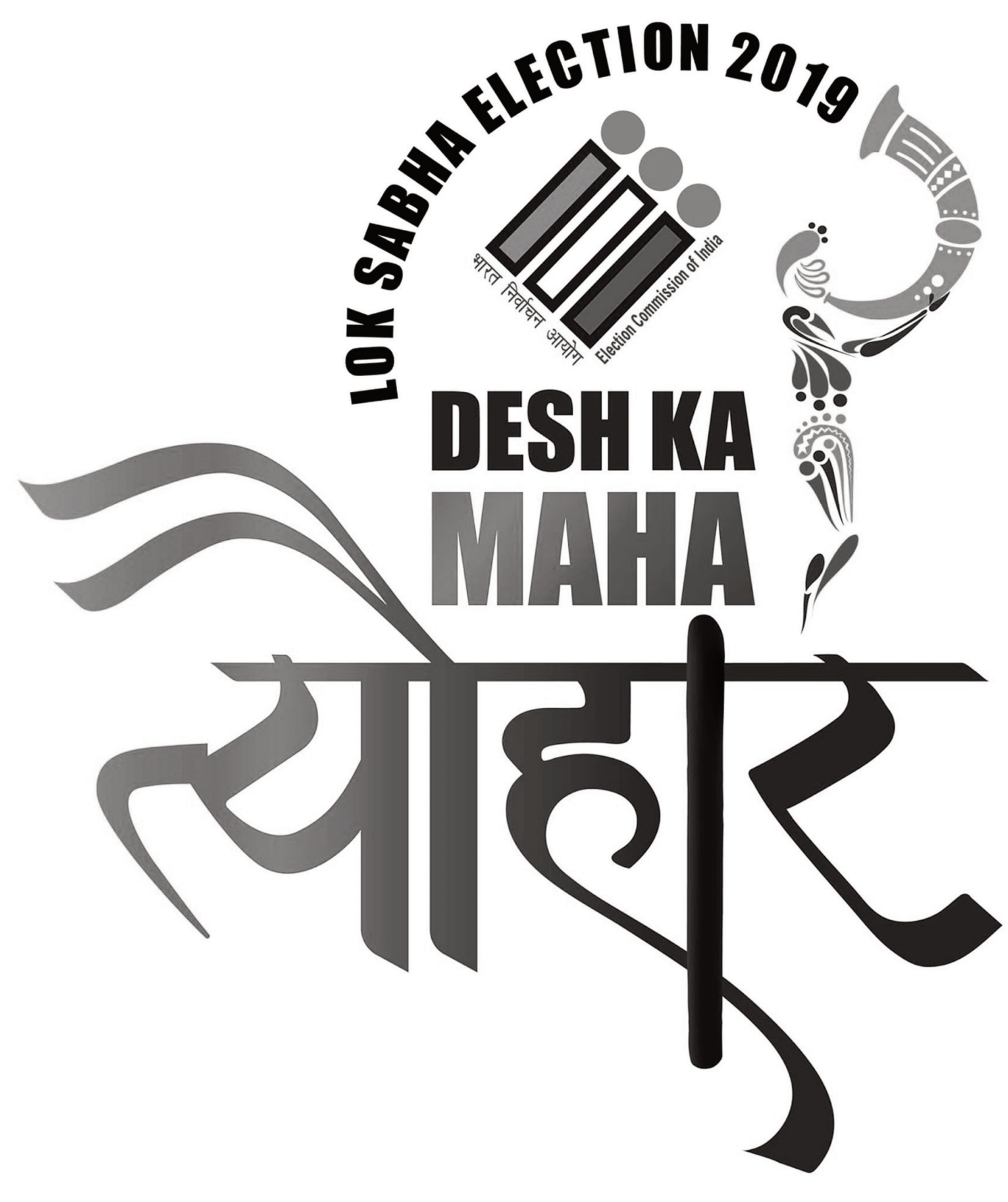

अथ

लोकतंत्र में चुनावों की महत्ता किसी पर्व से कम नहीं होती। चुनाव प्रक्रिया में ईमानदारी, सत्यनिष्ठता, पारदर्शिता व संसदीय भाषा का प्रयोग लोकतंत्र की गरिमा का संवर्धन करते हैं। लेकिन यह बड़ा दुखद एवं दुर्भाग्यपूर्ण है कि इस बार चुनावों के अंतर्गत मर्यादित आचरण, शालीन भाषा एवं भाव-भंगिमा के साथ अनाचार हुआ। चुनावों की गर्मागर्मी व हलचल की पृष्ठभूमि में भी इस स्खलन को उचित नहीं ठहराया जा सकता। यों तो माँ सरस्वती हम सब की आराध्या हैं, लेकिन वाणी की अवमानना करने में किसी दल व नेता ने संकोच नहीं किया। सत्तालोलुपता के वशीभूत होकर इन्होंने एक दूसरे की पगड़ी उछालने में कोई कमी नहीं छोड़ी। निराधार आरोपों, प्रत्यारोपों की झड़ी लगा दी। अनर्गल व असभ्य भाषा का इस्तेमाल कर अपनी व दल की साख व छवि धूमिल की –

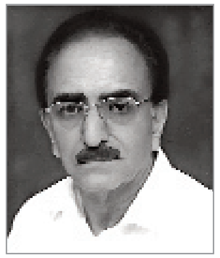

ओमीश परुथी
एसोसिएट प्रोफेसर (से.नि.)
प्रधान संपादक

हवाएँ यह कैसी चलने लगीं हैं,
वागेश्वरी आँखें मलने लगी है।
रघुकुल-थाती की लालिमा लूट कर,
राजनीति माँग अपनी भरने लगी है।

ऐसा करते समय इन्होंने न अपने पद को देखा, न परंपरा को, सज्जनता, सद्भाव व देश के गौरव को हाशिये पर धकेल दिया। केंद्र में रह गई सत्तालालसा, जिसे पूरा करने के लिए अनर्थ, अनर्गल सब स्वीकार्य हो गया।

व्यक्ति द्वारा कहे शब्द उसकी मनोदशा व संस्कारों के प्रतिबिंब होते हैं। इस बार नेताओं द्वारा संस्कारहीनता एवं मानसिक दिवालयापन के प्रदर्शन की होड़ लग गई। एक दूसरे से बढ़कर भद्दी व घिनौनी भाषा का प्रयोग किया गया। प्रधानमंत्री देश का सर्वसम्मान्य व्यक्ति होता है, इस बार उन्हें भी जी भर के गालियाँ दी गईं। नई से नई अपशब्दीय उपाधियाँ गढ़ी गईं, यथा– ‘वायरस’, ‘खून का दलाल’, ‘भगोड़ा’, ‘तानाशाह’, ‘पागल कुत्ता’, ‘रैबिज मरीज’ व ‘नीच’ इत्यादि।

‘चौकीदार चोर है’, इसे तो गली-गली में उद्घोषित किया गया, जबकि यह निराधार आरोप था। सेनाध्यक्ष को भी ‘गली का गुंडा’ कह के अपमानित किया गया। विश्व के कई देशों में सैनिकों का ऐसा अपमान सर्वथा अक्षम्य माना जाता है। हमारे यहाँ बोलने की स्वाधीनता का अनुचित प्रयोग हो रहा है।

राजनीतिक परिदृश्य की पतनोन्मुखता अत्यंत शोचनीय है। हमारा लोकतंत्र विश्व का सबसे बृहद् लोकतंत्र है। इस प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों से विदेशों में भारत की छवि धूमिल होती है। राजनीति की छत पर इक्ट्ठा होता यह गंदला पानी रिस-रिस कर समाज-भवन की सीलन बढ़ा रहा है। इससे हमारी युवा पीढ़ी को भी गलत संदेश जाता है। काश! यहाँ के राजनेता इस भयावह सत्य को समझते और राष्ट्र एवं लोकतंत्र की प्रतिष्ठा को बढ़ाते। •

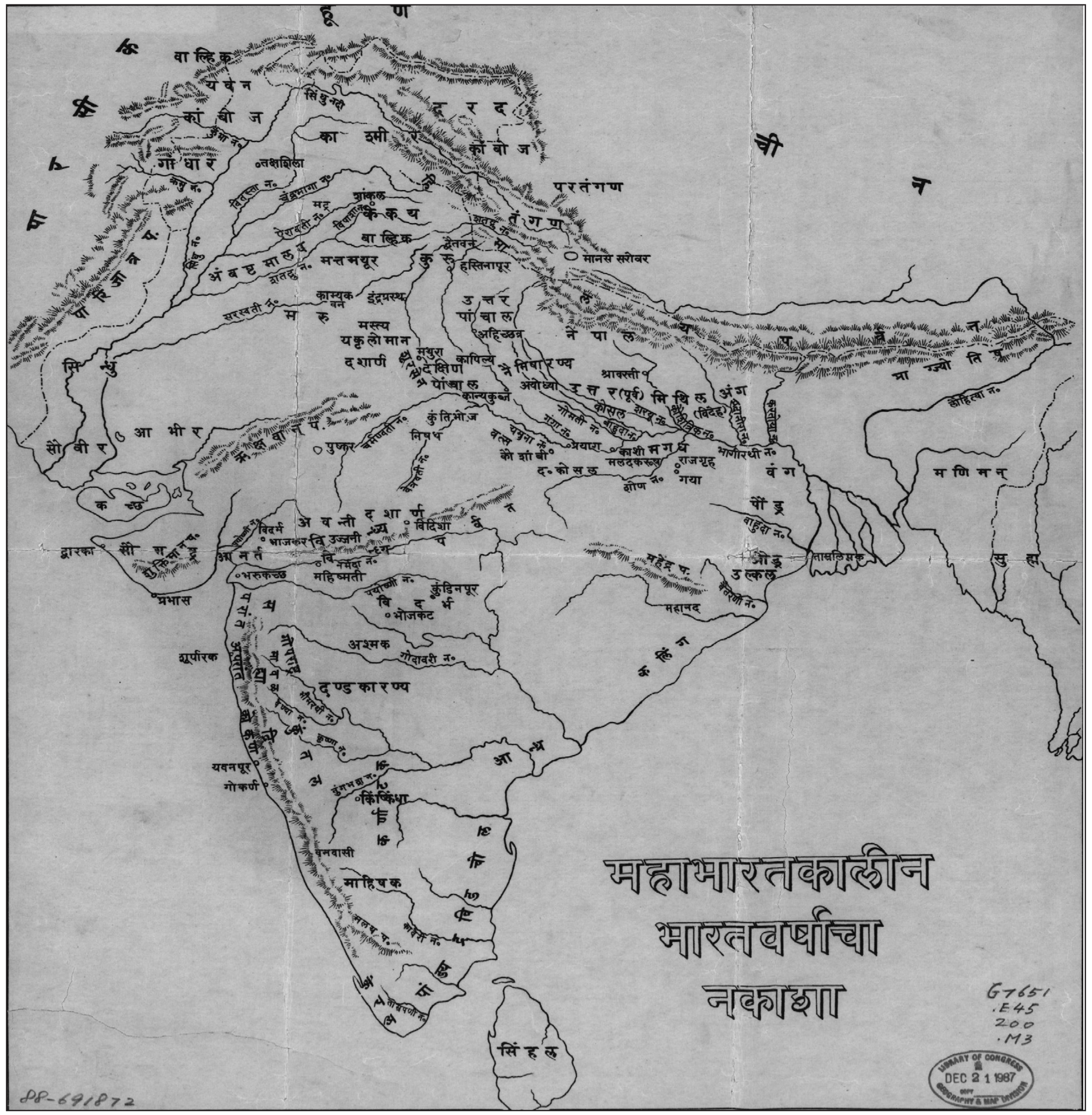

> भारत और भारत के राष्ट्रधर्म के विषय में देश में जो सम्भ्रम पैदा हुआ है वह वास्तव में देश, राज्य और राष्ट्र को ठीक से न समझ पाने के कारण हुआ है। वास्तव में राष्ट्र एक सांस्कृतिक अवधारणा है। इसी आधार पर हमारे ऋषि-मुनियों ने बहुत पहले ही भारत की भौगोलिक व सांस्कृतिक एकता और मानव समाज ही नहीं वरन् पूरी सृष्टि के लिए इसके वैशिष्ट्य का दिग्दर्शन कर लिया था। जिसके आधार पर कहा गया कि हम सदाचरण से ही व्यक्तिगत और समष्टिगत रूप से अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त कर सकते हैं। यही प्रत्येक भारतीय के जीवन का लक्ष्य है और यही भारत का राष्ट्रधर्म है।

आनन्द आदीश

भारत और भारत का राष्ट्रधर्म

सामान्य परिस्थिति में भारत और भारत के राष्ट्रधर्म के विषय में यदि कोई प्रश्न उठाता तो बेतुका ही करार दिया जाता। सूर्य के धर्म के विषय में किसी को कभी भी आशंका होती है क्या? कौन नहीं जानता कि सूर्य का धर्म है अंधकार का विनाश कर प्रकाश देना, ऊष्मा देना, जीवन देना। उसी प्रकार भारत का राष्ट्रधर्म श्रुतियों के माध्यम से अनादि काल में ही उद्भासित हो गया था। साक्षात् वेद में ही 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग अलग-अलग संदर्भ में अनेक बार उपलब्ध है। हमारे ऋषियों-मुनियों ने अपने अनुभूत सत्य को, जो उन्हें ऋतम्भरा प्रज्ञा के माध्यम से प्राप्त हुआ था, जन सामान्य में प्रारंभ में श्रुतियों तथा तत्पश्चात् स्मृतियों द्वारा संचरित कर दिया था। हृदयंगम करा दिया था कि जो हमें धारण करता है वह हमारा धर्म है-'धारयति सः धर्मः।' उसकी धारणा सदैव किए रखने से ही अर्थात् सदाचरण से ही हम व्यक्तिगत और समष्टिगत रूप में अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त कर सकते हैं। वही प्रत्येक भारतीय के अर्थात् भारतजन के जीवन का लक्ष्य है और मानव मात्र का होना चाहिए, क्योंकि हमारी मान्यता है कि व्यक्ति और समाज एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी न होकर, पूरक हैं। अनादिकाल से ही हम सूर्य, सत्य और सातत्य (अमृत्व) के आराधक रहे हैं तथा शांति के कामी। तभी तो हमने सदैव प्रार्थना की है :

ॐ असतो मां सद्गमया ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मामृतं गमय।।
ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः

वृहदारणयक उपनिषद् 1.3.28

इसी भावना ने हमारा राष्ट्रधर्म भी निर्धारित किया है। किंतु विड़म्बना है कि आजादी के 70 वर्ष बीत जाने पर भी हमें इस

प्रश्न से दो-चार होना पड़ रहा है कि भारत का राष्ट्रधर्म क्या है।

अँग्रेजों के भारत आने से पूर्व, सात-आठ शताब्दियों तक क्रूर मुस्लिम आक्रमणकारियों ने हमारे मंदिरों, मठों, विश्वविद्यालयों, पुस्तकालयों का ही विध्वंस नहीं किया, अपितु निरीह नागरिकों का जबरन धर्मांतरण अन्यथा कत्ले-आम कर हमारी पहचान मिटाने का कुत्सित प्रयत्न किया। श्रद्धा केंद्रों को नष्ट-भ्रष्ट कर हमारी अस्मिता पर गहरी चोट करने वाले गौरी, गजनी, तैमूरलंग, औरंगजेब, अब्दाली जैसे आततायिओं के बाद भी हम अभी तक यदि जिंदा हैं तो 'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।'

> **क्रूर मुस्लिम आक्रमणकारियों ने हमारे मंदिरों, मठों, विश्वविद्यालयों, पुस्तकालयों का ही विध्वंस नहीं किया अपितु निरीह नागरिकों का जबरन धर्मांतरण अन्यथा कत्ले-आम कर हमारी पहचान मिटाने का कुत्सित प्रयत्न किया। श्रद्धा केंद्रों को नष्ट-भ्रष्ट कर हमारी अस्मिता पर गहरी चोट करने के बाद भी हम अभी तक यदि जिंदा हैं तो 'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।'**

यही दुष्कर्म पुर्तगालियों द्वारा वास्को-डी-गामा के नेतृत्व में गोवा में और भी अधिक वीभत्स रूप में दोहराया गया। यहाँ जबरन धर्मांतरण कर ईसाई बनाने के लिए निहत्थे-निःसहाय नागरिकों पर किए गए अत्याचारों का स्मरण कर रूह काँप उठती है। भारत की अस्मिता पर यह दूसरा राक्षसी प्रहार था।

मैक्समूलर और मैकाले ने बोए विष-बीज

उसी काल में तीसरा आक्रमण धूर्त अँग्रजों की तरफ से किया गया। अँग्रेज, दोनों ही पूर्व चर्चित आक्रमणकारियों की अपेक्षा अधिक चालाक था। अतः उसने बाहर से निर्दोष-सा नजर आने वाला, परंतु अत्यधिक मर्मांतक खेल खेला। मैक्समूलर आदि ने 'आर्यों का आदि देश' नामक एक नया शगूफा छेड़ दिया। आर्य शब्द को बिना किसी भी प्रमाण के पहले तो जातिसूचक बताकर घोषित कर दिया कि ये भारत में बाहर से, वैसे ही आक्रमणकारी के रूप में आए थे जैसे बाद में मुसलमान आदि। मोहनजोदड़ों और हरप्पा की स्थानीय सभ्यताओं को इन्हीं आक्रमणकारियों ने नष्ट-भ्रष्ट किया था। जब वे उसका कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाए, तो कहने लगे कि आर्य यहाँ एक घुमन्तू जाति के रूप में घुसे और यहाँ के मूल निवासियों, द्रविड़ों को डरा-धमका कर दक्षिण की ओर खदेड़ दिया। तमिल-तेलगू आदि भाषा-भाषी उन्हीं द्रविडों के वंशज हैं, जिन्हें आर्यों ने उजाड़ा था। संपूर्ण संस्कृत वांङ्मय में आर्य शब्द संबोधन वाचक शब्द के रूप में कहीं पिता, कहीं माँ, कहीं पुत्र, कहीं पति आदि के लिए श्रेष्ठ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; जाति सूचक रूप में कहीं भी नहीं। परंतु भाई लोग हैं कि अभी भी हमारे अबोध विद्यार्थियों को यह विष पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से पिलाए चले जा रहे हैं।

1835 में भारत में अँग्रेजी शिक्षा पद्धति का विष बीज बोने वाले कुख्यात साम्राज्यवादी लॉर्ड मैकाले (1800-1859) को कौन भारतवासी नहीं जानता। तत्कालीन गर्वनर के इस परामर्शदाता ने 2 फरवरी, 1835 को इंग्लैंड के सांसदों के सामने जो बात कही थी वह भारत के प्रति पश्चिमी देशों के इरादों का प्रतिनिधि दस्तावेज हैः–

मैंने एक कोने से दूसरे कोने तक संपूर्ण भारत का भ्रमण किया है और कहीं भी, कोई भीख माँगने वाला अथवा चोर-उचक्का नहीं देखा। इतनी धन संपदा, उच्चविचारों और श्रेष्ठ प्रतिभा के व्यक्ति मिले हैं कि जब तक हम इस देश की आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक परंपरा रूपी रीढ़ को नहीं तोड़ देते, हम इसे विजित नहीं कर पाएँगे। इसलिए मेरा सुझाव है कि हम इस देश की प्राचीन शिक्षा पद्धति और संस्कृति को बदल दें क्योंकि यदि भारतीय इस बात को हृदयंगम कर लें कि जो कुछ भी विदेशी है, अँग्रेजी है वह उनके अपने स्वदेशी से बेहतर और श्रेयस्कर है, तो उनका अपना राष्ट्रीय सांस्कृतिक स्वाभिमान खंडित हो जाएगा और वे पूरी तरह हमारे अभिप्रेत गुलाम बन जाएँगे।''

प्रकारान्तर से इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु लॉर्ड मेयो की गवर्नर जनरल काउंसिल के प्रमुख सदस्य सर जॉन स्ट्रैची (1823-1907) ने कैंब्रिज विश्वविद्यालय की भाषणमाला में भारत के कभी भी एक राष्ट्र होने को नकार दिया। वह भाषण माला 1888 में 'इंडिया' नामक ग्रंथ के रूप में प्रकाशित हो प्रसिद्ध हुई। जॉन स्ट्रैची ने उसमें घोषित किया कि भारत के विषय में सर्वप्रथम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह स्मरण रखनी है कि यह देश कभी भी एक राष्ट्र न है, न कभी था।

> **जब तक हम इस देश की आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक परंपरा रूपी रीढ़ को नहीं तोड़ देते, हम इसे विजित नहीं कर पायेंगे। इस देश की प्राचीन शिक्षा पद्धति और संस्कृति को बदल दें क्योंकि यदि भारतीय इस बात को हृदयंगम कर लें कि जो कुछ भी विदेशी है, अँग्रेजी है वह उनके अपने स्वदेशी से बेहतर व श्रेयस्कर है तो उनका राष्ट्रीय सांस्कृतिक स्वाभिमान खंडित हो जायेगा। - मैकाले**

सर विंसटन चर्चिल ने तो अपनी चिर-परिचित व्यंगात्मक-शैली में फतवा ही सुना दिया कि भारत एक भूखंड मात्र है। जैसे भूमध्य रेखा को राष्ट्र नहीं कहा जा सकता, वैसे ही भारत भी कोई राष्ट्रीय इकाई नहीं है।

उधर कार्ल मार्क्स, जिसने कभी भी भारत की धरती पर कदम तक नहीं रखा, हमारे देश को सदैव हेय दृष्टि से देखता था। स्वाभाविक था कि उसके मानसिक गुलाम देसी कम्यूनिस्टों को तो इस महान् प्राचीन राष्ट्र में कभी भी कुछ भी श्रेयस्कर नजर ही नहीं आया।

अँग्रेजों के मानस पुत्रों के षड्यंत्र

स्वयं के हिन्दू होने को एक संयोग मात्र घोषित करने वाले, अँग्रेजों के मानस पुत्र नेहरू ने इन्हीं पाश्चात्य षड्यंत्रकारियों के स्वर में स्वर मिलाते हुए घोषित कर दिया कि भारत एक राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में से गुजर रहा है। यही कारण है कि आजादी के बाद के 70 वर्षों में नेहरू वंश और कम्यूनिस्टों ने एक दूसरे के स्वार्थ साधने के लिये भारत राष्ट्र के विचार को नकारा ही नहीं, परकीयों से भी अधिक लांछित और लंगड़ा किया।

भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की उद्घोषणा

जबकि 20वीं शती के पूर्वार्द्ध में प्रकाशित 'ऋग्वैदिक भारत' तथा 'ऋग्वैदिक संस्कृति' नामक खोजपूर्ण ग्रंथों के रचयिता महान् भारतीय इतिहासकार अविनाश चंद्र दास ने उपर्युक्त जहरीली गैस से भरे गुब्बारों की हवा निकालने का अद्भुत कार्य पहले ही संपादित कर दिया था।

1920 में प्रकाशित 'भारतीय संस्कृति में राष्ट्रवाद' (नैशनलिज्म इन इंडियन कल्चर) नामक तथ्यपूर्ण पुस्तक में तो प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी ने दो टूक शब्दों में अपना निष्कर्ष लिख दिया था कि दुनिया के किसी भी अन्य देश में देव-स्थानों और पवित्र तीर्थस्थलों का इतना सुविचारित व्यापक जाल नहीं बिछाया गया था जितना श्रद्धालु धार्मिक भारतीयों द्वारा अपनी विशाल मातृभूमि भारत में।

राष्ट्र की चिति और राष्ट्रधर्म

सत्य तो यह है कि यह सुनिश्चित करना असंभव है कि भारत के सुदीर्घ राष्ट्र-जीवन के पुण्य प्रवाह में राष्ट्रधर्म की अवधारणा कब अंकुरित हो गई।

- शायद तब जब पर्वतराज-हिमालय के उत्तुंग शिखरों पर स्थित गहनगुफा में समाधिस्थ आदियोगी ने ॐ का उद्घोष कर आँख खोलते ही स्वयं से प्रश्न किया : कोऽहं? तथा तुरंत स्वयं ही उत्तर भी दे दिया – सोऽहं !

- या तब, जब महासागर की अपार जलराशि पर तैरती लघुकाय मछ्ली की कातर पुकार सुनकर करुणा-विगलित वैवस्वत मनु ने उसे अपने कमण्डल की रक्षा-परिधि में लेकर जीवमात्र के जीने के अधिकार को ही स्वीकृति नहीं दी, अपितु निर्बल की रक्षा करना मनुष्यमात्र का दायित्त्व भी निर्धारित कर दिया।

- अथवा तब जब ऋषि मुख से देववाणी फूट पड़ी- 'एकं सद्, विप्रा बहुधा वदन्ति।' अर्थात् सत्य एक है, अविभाज्य है; सार्वदेशिक है, सार्वकालिक है। विद्वान लोग अपनी-अपनी मतिनुसार उसकी व्याख्या करते हैं। ऐसा करना उनका अधिकार भी है।

मनु स्मृति में वर्णित धर्म के दस लक्षणों से स्पष्ट है कि धर्म आचरण की संहिता का नाम है, कर्मकांड का नहीं। योग-दर्शन में पतंजलि ने भी धर्म की स्पष्ट व्याख्या की है और राष्ट्र जीवन में इन सब का महत्त्व रेखांकित किया है। इसीलिए धर्म को मात्र गृहत्यागियों, साधु-सन्यासियों और ऋषियों-मुनियों तक सीमित मानने की भूल न की जाए।

सामाजिक विकास के साथ-साथ कालांतर में उपर्युक्त तीनों प्रसंगों के आलोक से भासित यह भावभंगिमा मनुस्मृति में वर्णित धर्म के दस लक्षणों के रूप में जनसुलभ ही नहीं हो गई, जन-जन की रगों में रच-पच ही नहीं गई, स्वदेश का स्वभाव ही बन गई।

पंडित दीन दयाल उपाध्याय ने इसी को राष्ट्र की चिति के रूप में प्रस्तुत कर व्याख्यायित किया।

धर्म अर्थात् आचरण की संहिता

पहले मनु स्मृति में वर्णित धर्म के 10 लक्षण–

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

(मनुस्मृति 6.92)

अर्थात् धृति (धैर्य), क्षमा (दया, करुणा और अहिंसा भाव जनित क्षमा), दम (संयम से धर्म का पालन करना), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (अंतर बाह्य पावित्र्य), इंद्रिय निग्रह (इंद्रियों को वश में रखना), धी (सत्कर्मों में बुद्धि को लगाए रखना), विद्या (ज्ञानार्जन), सत्यम् (सत्य संभाषण) और अक्रोध (क्रोध रहित होकर शांत स्वभाव रखना)। ये धर्म के दस लक्षण हैं जिनकी अनुपालना की सबसे अपेक्षा है।

धर्म के उपर्युक्त वर्णित 10 लक्षणों से स्पष्ट है कि धर्म आचरण की संहिता का नाम है, कर्मकांड का नहीं। योग-दर्शन में पतंजलि ने भी धर्म की स्पष्ट व्याख्या की है और राष्ट्र जीवन में इन सब का महत्त्व रेखांकित किया है। इसे मात्र गृहत्यागियों, साधु-सन्यासियों, ऋषियों-मुनियों तक सीमित मानने की भूल न की जाए। जब -जब अति उत्साह में एकाधिक पक्ष पर अतिरिक्त बल अथवा उपेक्षा दिखाई गई है, तब-तब राष्ट्र संकट से गुजरा है। इसी से सावधान करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कर्मयोग का उपदेश दिया है। स्वर्गीय पंडित दीन दयाल उपाध्याय ने जिस राष्ट्रीय चिति की बात की है, वह संस्कारित व्यक्तियों के योग से संपृक्त, परिष्कृत और संपुष्ट समाज की सामूहिक चेतना की ही अभिव्यक्ति होती है।

दीन दयाल जी के पास समय होता तो वे राष्ट्र की चिति बनने की दीर्घकालीन प्रक्रिया की विस्तार से चर्चा अवश्य करते। परंतु विधाता को शायद ऐसा मंजूर नहीं था। वे समय से पूर्व ही हमें छोड़कर चले गए।

फिलहाल इतना और कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि ॐ के साथ-साथ धर्म के दस लक्षण भारत में जन्मे प्रत्येक पंथ, उप-पंथ, मत, संप्रदाय, उप-संप्रदाय में मान्य ही नहीं, आधारशिला की तरह स्थापित हैं। सनातन सत्य की तरह अधिष्ठित हैं। बौद्धों की दया और करुणा, जैनों की क्षमा और अहिंसा तथा नानक पंथी सिक्खों का 'सरबत का भला' तथा 'सत् श्री अकाल' के दैवी विचार उस सदाचरण के अभाव में संभव ही नहीं हो सकते। तीनों ही मतों के संस्थापक ऐसी अवतारी विभूति हैं जिनके मतालंबियों ने सदैव सनातन भारतीय परंपरा में समयनुसार सुधार कर उसके संपोषण व संवर्धन का स्पृहणीय कार्य संपन्न किया है।

ॐ के साथ-साथ धर्म के दस लक्षण भारत में जन्मे प्रत्येक पंथ, उप-पंथ, मत, संप्रदाय, उप-संप्रदाय में मान्य ही नहीं, आधारशिला की तरह स्थापित है। सनातन सत्य की तरह अधिष्ठित हैं। बौद्धों की दया और करुणा, जैनों की क्षमा और अहिंसा तथा नानक पंथी सिक्खों का 'सरबत का भला' तथा 'सत् श्री अकाल' के दैवी विचार उस सदाचरण के अभाव में संभव ही नहीं हो सकते।

राष्ट्र के अवयव

किसी भी राष्ट्र के तीन अविभाज्य अवयव होना आवश्यक हैः

1. भूखंड
2. भूखंड पर निवास करने वाला जन समाज।
3. उस भूखंड तथा उस पर निवास करने वाले जन समाज का जीवन-दर्शन, इतिहास, उसकी सभ्यता और संस्कृति ।

इस दृष्टि से विचार करने पर भारत के एक भरे-पूरे प्राचीन राष्ट्र होने पर यदि कोई शंका व्यक्त करता है तो या तो वह मूढ़ है अथवा धूर्त, या फिर दोनों। एक भौगोलिक इकाई के रूप में तो भारत ईश्वर की एक अनुपम कृति ही कही जाएगी – उत्तर में विश्व की सबसे ऊँची तथा लंबी चौड़ी विशाल हिमालय पर्वत शृंखला द्वारा सुरक्षित तथा दक्षिण-पश्चिम, दक्षिण-पूर्व और दक्षिण में महासागर की विशाल जलराशि से आप्लावित। जीव, जंगम और सुरम्य जलवायु का एक ही देश में इतना विस्मयकारी वैविध्य अन्यत्र दुर्लभ है।

इसी प्रकार यहाँ का जन-समाज, उनका भोजन, वेषभूषा, भाषा, रस्मों रिवाज – सभी कुछ भाँति - भाँति के फूलों से पुष्पित उपवन है। इसीलिए कहा जाता है–

कोस-कोस पर बदले पाणी ।
चार कोस पर वाणी ।।

फिर भी गंगा के अविरल-निर्मल प्रवाह के समान विश्व का प्राचीनतम, सुसभ्य, सुसंस्कृत, सुगठित अखंड राष्ट्र-जीवन अर्थात् भारत। हम भारतीयों को अनादिकाल से ही भारत भूमि तथा उसके भूगोल की प्रतीति रही है। प्राचीन काल से ही मान्यता रही है कि भारत नाम जड़ भरत अथवा आदिनाथ ऋषभदेव के प्रतापी पुत्र भरत के नाम पर प्रचलित हुआ। इंडिया नाम भी अंग्रेजों ने नहीं, ढाई हजार वर्ष पूर्व ग्रीक लोगों ने दिया और हिंदू तथा हिंदुस्थान नाम अरबों के उच्चारण भेद के कारण पड़ा।

मैं स्वयं 'इंडिया', 'हिंदुस्थान' और 'हिंदू' शब्दों के प्रयोग को भी बनाए रखने का पक्षधर हूँ क्योंकि इनका भौगोलिक, ऐतिहासिक और सामाजिक तथा कूटनीतिक महत्त्व हैं। ईरान के प्रतापी ऐकेमेनिड- शासक (ईसा पूर्व 519-518) डेरियस प्रथम के आलेख में भारत को

हिंदुश (हिंदुश अथवा हिंडुश) लिखा गया है और 'हिंदू' को, वहाँ के लोग आज भी 'हिंदुश' पढ़ते हैं। इस संबंध में मैं 'इंडिया' नामक विशालकाय ग्रंथ के लेखक जॉन केई को उद्धृत करना उचित समझता हूँ–

''भारत विभाजन के समय जिन्ना ने पाकिस्तान नाम चुना था तथा उसने सोचा था कि नेहरू भी शेष क्षेत्र के लिए भारत नाम चाहेंगे, इंडिया नहीं। परंतु जब उसे यह पता चला कि अंतिम ब्रिटिश वायसराय लॉर्ड माउंटबेटन ने नेहरू तथा कांग्रेस की इस माँग को मान लिया है कि शेष भारत को 'इंडिया' नाम से भी जाना जाए, तो जिन्ना बुरी तरह बौखला गया।''

शास्त्र ने ही घोषित कर दिया था कि हिमालय से सिंधु पर्यंत 1000 योजन का विस्तार जिस भूखंड का है वह भारत देश है। पूर्व और पश्चिम की तरफ भी ओर-छोर जहाँ तक दिखे, भारत विद्यमान है।

भारत समान विशाल भूखंड का तो मानों हमारे पूर्वजों ने साक्षात् दिग्दर्शन ही किया है। अन्यथा अति प्राचीनकाल में ही वे कैसे कह पाते कि भारत का दक्षिणी छोर कछुए की बाहर निकली गर्दन की तरह दिखता है। अथवा बैलगाड़ी के जुए को हटाने के पश्चात् जो आकृति बनती है, वह भारत भूमि की है। जिस स्थान पर बैल जोतते हैं, वैसी आकृति दक्षिण छोर की है।

विष्णुपुराण में स्पष्ट लिखा है –

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्ष तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।

भारत समान विशाल भूखंड का तो मानो हमारे पूर्वजों ने साक्षात् दिग्दर्शन ही किया है। अन्यथा अति प्राचीनकाल में ही वे कैसे कह पाते कि भारत का दक्षिणी छोर कछुए की बाहर निकली गर्दन की तरह दिखता है अथवा बैलगाड़ी के जुए को हटाने के पश्चात् जो आकृति बनती है, वह भारत भूमि की है। जिस स्थान पर बैल जोतते हैं, वैसी आकृति दक्षिण छोर की है और चौकोर गाड़ी के आकार का संपूर्ण क्षेत्र उत्तरी भारत है।

इतना ही नहीं हमने इस देश से, धरती से माता का संबंध रखा है। वैदिक ऋषि को ज्ञात है कि यह भारत माता अनेक प्रकार के जनों द्वारा अनेक बोलियों के माध्यम से, अनेक प्रकार से संबोधित की जाने पर भी हम सबकी मातृवत् है-''माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।'' विभिन्नताओं के बीच आंतरिक सौमनस्य की कामना अथर्ववेद के संज्ञान सूक्त में स्पष्ट रूप से की गई है।

अज्ञान अथवा ईर्ष्यावश भारत को एक राष्ट्र न मानने वाले और भारत के राष्ट्रधर्म पर अंगुली उठाने वालों को स्मरण रखना चाहिए कि हम देश के विभिन्न भागों में बहने वाली सात पवित्र नदियों का सहस्रों वर्षों से आह्वान करते चले आ रहे हैं–

गंगे च यमुने चैव
गोदावरी, सरस्वती।
नर्मदा, सिन्धु, कावेरी
जले अस्मिन- सन्निधिं कुरू ।।

और सात मोक्षदायिका पुरियाँ, द्वादश ज्योतिर्लिंग, बावन शक्तिपीठ, चारधाम, चार महाकुंभ क्षेत्र, वेद, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत् आदि ग्रंथ हमारे देश की एकता के महत्त्वपूर्ण संगठक हैं। बेशक हम राजनीतिक दृष्टि से सदैव एक छत्र के नीचे न रह पाए हों, लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से हम कभी भी दिशाहीन नहीं हुए; विखंडित अथवा विभाजित नहीं हुए। परस्पर विरोध को तिलांजलि दे, एक मन, वचन और कर्म के लिये हम सदैव संकल्पबद्ध रहे, 'संगच्छध्वं, संवदध्वं, सं वो मनांसि जानताम् ।'

भारत में जन्म प्राप्त करना देवताओं तक के लिए ईर्ष्या का कारण रहा है–

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।।

(विष्णुपुराण)

अर्थात् देवगण निरंतर यही गान करते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग पर चलने के लिय भारतभूमि में जन्म लिया है वे मनुष्य हम देवताओं की अपेक्षा अधिक धन्य तथा भाग्यशाली हैं।

यहाँ यह स्पष्ट करना समीचीन रहेगा कि भारत की राष्ट्रधर्म की अवधारणा पश्चिमी देशों से भिन्न है। पश्चिमी अवधारणाओं में राष्ट्र में एक ही नस्ल, भाषा, खान-पान, पहनावे और पंथ के अनुयायियों का होना अनिवार्य माना जाता है। उस भूखंड के प्रति उनका माता-पुत्र के समान भक्ति भाव न होकर भोग्या और भोक्ता का संबंध अधिक मुखर है। उदाहरण के लिए अमेरिकी विचारक सैमुअल हटिंगटन ने अपनी पुस्तक 'हू आर वी' में ईसाई मजहब, प्रोटेस्टेंट जीवन मूल्य और नैतिकता, कार्यशैली, अँग्रेजी भाषा, विधि और न्याय की आँग्ल परंपरा एवं सरकारी हस्तक्षेप की सीमाओं तथा यूरोपीय कला साहित्य दर्शन और संगीत को अमेरीकी राष्ट्र धर्म की संज्ञा दी है क्योंकि इन्होंने युद्ध और शांति दोनों में अमेरिकन राष्ट्र की अखंडता अक्षुण्ण रखी है तथा उसके नागरिकों को एक सांझी पहचान तथा लक्ष्य प्रदान किया है।

प्रसिद्ध ब्रिटिश दार्शनिक रोजर स्क्रूटन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दक्षिणपंथी कैसे बनें' में वैश्विक नागरिकता की कल्पना को सिरे से नकार दिया है। स्क्रूटन मानते हैं कि एक भूखंड विशेष में सुसभ्य इतिहास के वारिस जन ही आसानी से एक सहकारी समाज जनित संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। जहाँ भी व्यक्तियों की पहचान राष्ट्रीय सीमाओं का उल्लंधन कर पृथक मजहब आदि के नाम पर करने का प्रयत्न किया जाएगा, वहीं प्रजातंत्र पर संकट के बादल मंडराएँगे। स्क्रूटन की स्थापना है कि किसी राष्ट्र की आधारशिला एक ऐसा उत्तम-पुरुष बहुसांख्य (First person plural) अर्थात् एक देश, एक समाज तथा एक जीवनशैली है जो सब उनके अपने हैं।

सेमेटिक संप्रदायों की कट्टरपंथी सोच

उधर भारत में कुछ कट्टरपंथी तथा अलगाववादी तत्त्व देश की भौगोलिक सीमाओं के प्रति वफादारी के स्थान पर मजहब को तरजीह देने की वकालत करते नजर आते हैं। इकबाल ने कहा भी था– 'मुसलिम हैं हम वतन हैं, सारा जहाँ हमारा।' वैसे यह विष-बीज वहाबी विचारधारा और साम्राज्यवादी अँग्रजों ने बोया था जिसकी परिणति भारत विभाजन के रूप में हुई। इस वैचारिक विभ्रम का सर्वोत्तम उत्तर भी स्क्रूटन ने ही दिया है। उन्होंने निर्भ्रांत शब्दों में अपना मत ही प्रकट नहीं किया, चेतावनी भी दी है कि– ''किसी भी संकट की घड़ी में मजहब के प्रति जवाबदेही के स्थान पर राष्ट्र के नागरिक के रूप में ही हमारी जवाबदेही होनी चाहिए। जब तक लोग स्वदेश, उसकी सीमाओं और उसकी सांस्कृतिक विरासत के साथ परिवार की तरह एकनिष्ठ नहीं होते, तब तक जनतंत्रात्मक स्वतंत्र कार्य -प्रणाली के लिए अपरिहार्य सहमति की राजनीति, मृगतृष्णा ही बनी रहेगी। ''

दुर्भाग्य से आजादी के 70 वर्ष बीत जाने के बाद भी भारत के निष्कलंक राष्ट्रधर्म की बात सुनकर कुछ कट्टरपंथी मुसलमान, ईसाई, और कम्यूनिस्ट नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं क्योंकि उनकी मान्यता है कि उनका विचार ही सर्वोत्तम है। जो उसे नहीं मानते वे काफिर हैं, अधम हैं, अबोध हैं। अतः उनका धर्मांतरण होना आवश्यक है। वोट बैंक की राजनीति ने इस खाई को पाटने के स्थान पर और अधिक गहरा और चौड़ा किया है। धर्मांतरण का यह षड्यंत्र सामाजिक सौहार्द का

सर्वाधिक घातक अपादान कारक बनकर सामने खड़ा है जो वंदे मातरम् समान आह्लादकारी राष्ट्रगीत तथा शुद्ध वैज्ञानिक योग तक को वर्जित घोषित करने का दुःसाहस कर रहा है। देश के कुछ क्षेत्रों में अलगाव की आग सुलगाने में लिप्त देशद्रोहियों को उकसा रहा है।

इन तीनों संप्रदायों की संकुचित कट्टर-सोच और असहनशीलता का इतिहास पुराना ही नहीं रोंगटे खड़ा करने वाला है। अपने से भिन्न विचार रखने वालों के साथ इनका अमानवीय व्यवहार विश्व के इतिहास का घोर-घिनोना अध्याय है। जिस पर इनके द्वारा पश्चाताप कर परिमार्जन करना अभी शेष है।

आखिर यूनानी दार्शनिक सुकरात को मतभिन्नता के कारण ही तो विषपान करने के लिए बाध्य किया गया और अभी-अभी निकट भूतकाल में 16वीं शताब्दी में फिलिप्पो ब्रूनों को इटली में पोप की आज्ञा से जिंदा जलाकर मार दिया गया क्योंकि उसने ईसाई मान्यता के विपरीत सूर्य को हमारे तारामंडल के केंद्र में बताने की हिमाकत की थी।

> **“किसी भी संकट की घड़ी में मजहब के प्रति जवाबदेही के स्थान पर राष्ट्र के नागरिक के रूप में ही हमारी जवाबदेही होनी चाहिए। जब तक लोग स्वदेश, उसकी सीमाओं और उसकी सांस्कृतिक विरासत के साथ परिवार की तरह एक-निष्ठ नहीं होते, तब तक जनतंत्रात्मक स्वतंत्र कार्य -प्रणाली के लिए अपरिहार्य सहमति की राजनीति, मृगतृष्णा ही बनी रहेगी। ”**
>
> *-स्कूटन*

इसी प्रकार इसलामी खलीफा अब्बासिद के हुक्म से दसवीं शताब्दी में ईरानी दार्शनिक मंसूर को 10 वर्ष तक भयंकर यातनाएँ देने के बाद बगदाद के मुख्य द्वार पर फाँसी पर लटका दिया गया। उसका कसूर था कि उसने ‘अन-अल हक’ (मैं सत्य हूँ अथवा मैं ब्रह्म हूँ) कह दिया था। और 12वीं शती में इब्न रुश्द को इसलिए तड़पा-तड़पा कर मार डाला गया क्योंकि इस स्पेनिश ने यूनानियों की तर्ज पर शुक्र तारे को ‘देवी’ के विशेषण से संबोधित कर दिया। अपने से भिन्न विचार रखने वालों को साइबेरिया के यातना केंद्रों में सोवियत संघ तथा तिब्बत वासियों पर चीनियों द्वारा ढ़ाये गए जुल्मों की रक्तरंजित कथा लिखने के लिए तो अलग से एक लंबा लेख लिखना पड़ेगा।

क्यों हुए भारत पर बार-बार आक्रमण

प्रारंभ में चर्चित सभी परकीय आक्रमण मात्र धन संपदा लूटने के लिए नहीं किए गए थे। हिंदुओं का धर्मांतरण करना भी उसका एक लक्ष्य था। परंतु प्रमुखतम उद्देश्य था, विश्व की महानतम् सभ्यता और संस्कृति जिसे भारतीय, वैदिक, हिंदू, इंडियन किसी भी नाम से क्यों ना पुकारें को नष्ट-भ्रष्टकर हमें गुलाम बनाना। वैसे तो तीनों ही आक्रांता सत्तालोलुप और घोर अत्याचारी थे, परंतु मुसलमान अधिक क्रूर व धर्मांध था, तो पुर्तगाली हृदयहीन एवं निर्लज्ज तथा अँग्रेज धूर्त और कपटी। और इधर हम थे कि घोर निराशा, हताशा के काल में भी मौका पाते ही खोई स्वतंत्रता पुनः प्राप्त करने के लिए जान हथेली पर रख कर जूझ पड़ते थे।

1857 का स्वातंत्र्य समर

1857 के स्वातंत्र्य समर में एक बार फिर वैसा ही हुआ। परंतु एक बड़े अंतर के साथ। अबकी बार हिंदू और मुसलमान एक जुट होकर अँग्रेजी राज को उखाड़ फेंकने के लिए सिर पर कफन बांध कर निकल पड़े। अँग्रेजी राज की चूल ही हिल गई। पेशवा नाना फडनवीस के वकील अजीमुल्ला खाँ की निम्न दो पंक्तियों के माध्यम से भारत की अदम्य जिजीविषा और स्वातंत्र्य की ललक एक बार फिर मुखर हो उठी–

गाजियों में बू रहेगी, जब तलक ईमान की।
तख्ते लंदन तक चलेगी तेग हिन्दुस्थान की।।

स्वाभाविक ही फिरंगी अँग्रेजों के कान खड़े हो गए। रात की नींद और दिन का चैन हराम हो गया। अँग्रेज ने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि गाजियों की ईमान की बू कभी अदमनीय हिंदुत्व की सहचरी बनकर स्वातंत्र्य समर में साम्राज्यवादियों के विरुद्ध खम ठोक कर खड़ी हो जाएगी। ‘फूट डालो और राज करो’ की कूटनीति का जन्म अँग्रेजों की इसी भयाक्रांत मनस्थिति की कोख से हुआ था।

अँग्रजों की नीति-फूट डालो, राज करो

खुद पर मंडरा रहे खतरे से निपटने के लिए उन्होंने जहाँ एक ओर हिंदुओं और मुसलमानों में वैमनस्य के बीज बोने प्रारंभ किए, वहीं दूसरी ओर सिक्खों को, जो कि भारत राष्ट्र की जुझारू शमशीर हैं, हिंदुओं से पृथक कौम के रूप में खड़ा होने को उकसाया। इतने पर ही ये नहीं रुके। सीधे-सीधे भारत के राष्ट्र होने पर ही प्रश्न चिह्न लगाकर, इसके राष्ट्रधर्म को कलंकित-कलुषित करने के उद्देश्य से राष्ट्र-राज्य की भ्रामक अवधारणा परोसकर स्वातंत्र्य समर के संपूर्ण विमर्श को ही विषाक्त कर विपरीत दिशा में मोड़ दिया।

> **खुद पर मंडरा रहे खतरे से निपटने के लिए अँग्रेजों ने जहाँ एक ओर हिंदुओं और मुसलमानों में वैमनस्य के बीज बोने प्रारंभ किये, वहीं दूसरी ओर सिक्खों को, जो कि भारत राष्ट्र की जुझारू शमशीर थी, हिंदुओं से पृथक कौम के रूप में खड़ा होने को उकसाया। इतने पर ही ये नहीं रुके। भारत के राष्ट्र होने पर ही प्रश्न चिह्न लगाकर, इसके राष्ट्रधर्म को कलंकित-कलुषित करने लगे।**

अब हम स्वातंत्र्य प्राप्त करने के लिए अँग्रेजों से लड़ने के स्थान पर आपस में ही एक दूसरे के खून के प्यासे होकर घूमने लगे। स्थान-स्थान पर सांप्रदायिक मुसलिम लीगी दंगे अँग्रेजों द्वारा सुलगाई आग की ही लपटे थीं जिसकी परिणति 1947 में भारत विभाजन के रूप में सामने आई और आज भी सुरसा बनकर अलगाववाद के लिए खाद-पानी का इंतजाम कर रही है। काँग्रेसियों और कम्यूनिस्टों ने मंथरा बनकर इसे खूब हवा दी है। पुराणकारों द्वारा भारत भूमि के स्वर्गभूमि, पुण्यभूमि, मातृभूमि आदि के रूप में प्रस्तुत दर्शन को नकारना अब इनका नैमित्तिक कर्म हो गया है।

उन्हें यह कैसे गँवारा हो सकता था कि इस भारतभूमि से ही स्वर्ग, मोक्ष, अंतरिक्ष आदि लोक पाए जा सकते हैं। अतः मनगढ़ंत बातें, बिना किसी प्रमाण के, ऐतिहासिक तथ्य घोषित कर लिख मारी। वह भी किसी ऐरे-गैरे द्वारा नहीं, प्रसिद्ध, सुस्थापित तथाकथित इतिहासकारों और महापंडितों द्वारा।

इतः स्वर्गश्च,
मोक्षश्च मध्यंचान्तश्च गम्यते।
न खल्वन्यत्र मर्त्यानां
कमीभूमौ विधीयते।।

धर्म की अनुपालना सबके लिए

मनुस्मृति में वर्णित धर्म, मात्र गृहत्यागियों, साधु-सन्यासियों के लिए ही न होकर, समाज के प्रत्येक घटक के लिए है। सुदूर अतीत में ही हमारे पूर्वज जीवन के अनुभवों से इस निष्कर्ष पर पहुँच गए थे कि व्यक्ति-व्यक्ति के शुद्धाचरण के अभाव में सुदृढ़, सुसभ्य, सुसंस्कृत समाज का निर्माण नहीं हो सकता तथा सुसंगठित समाज ही किसी भी राष्ट्र की सुरक्षा सुनिश्चित करने में समर्थ होता है। वे इस तथ्य से भी अनजान नहीं थे कि इस त्रिगुणात्मक (सत्, रज और तम) संसार में कभी एक पक्ष प्रबल होता है तो कभी दूसरा। ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग के समन्वय से साधक अष्टांग योग – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा,

ध्यान और समाधि- के द्वारा चित्तवृत्तियों को वश में करने में सफल हो पाता है। किंतु युग परिवर्तन से धर्म के अंगों में स्वतः ह्रास होना प्रकृति का नियम है। सतयुग में धर्म अपने पूर्ण उत्कर्ष में विद्यमान रहता है। तत्पश्चात् त्रेतायुग और द्वापर में लोगों की वृत्तियों में क्रमशः कुछ विकार आने लगता है। मनु के अनुसार सतयुग में धर्म एवं सत्यरूपी वृषभ चार पैरों अर्थात् तप, ज्ञान, यज्ञ और दान वाला होता है –

चतुष्पाद सकलोधर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधमोणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रति वर्तते ।।

प्रत्येक युग में धर्म चौथाई, चौथाई क्षीण होता जाता है। धर्म की सार्थकता आचरण में है। आचार ही धर्म को मापने की तुला है। धर्म का पालन करने वाला व्यक्ति एक ओर अपनी वासनाओं, भावनाओं, विचारों और प्रवृतियों के संतुलन से अपने को व्यवस्थित रखता है, वहीं दूसरी ओर अन्यों के साथ अपने आचार-व्यवहार द्वारा समाज में समन्वय, सहयोग, सहिष्णुता, संवेदनशीलता और सहनशीलता को प्रोत्साहित करता है। सारा माजरा शुद्धाचरण का है।

हमारे पूर्वज जीवन के अनुभवों से इस निष्कर्ष पर पहुँच गये थे कि व्यक्ति-व्यक्ति के शुद्धाचरण के अभाव में सुदृढ़, सुसभ्य, सुसंस्कृत समाज का निर्माण नहीं हो सकता तथा सुसंगठित समाज ही किसी भी राष्ट्र की सुरक्षा सुनिश्चित करने में समर्थ होता है। वे इस तथ्य से भी अनजान नहीं थे कि इस त्रिगुणात्मक (सत्, रज और तम) संसार में कभी एक पक्ष प्रबल होता है तो कभी दूसरा।

मनुस्मृति में कहा भी है –

फलं कतक वृक्षस्य यद्यप्यम्भुप्रसादकम् ।
न नामग्रहाणादेव तस्य वारि प्रसीदति । *6/67*

अर्थात् जिस प्रकार निर्मली वृक्ष का फल जल में डालने से जल निर्मल होता है केवल उसका नाम लेने से नहीं, उसी प्रकार धर्म का आचरण करने से ही आत्मा शुद्ध होती है, केवल धर्म का नाम लेने से नहीं। संक्षेप में धर्म की सार्थकता आचरण में ही है।

भय बिनु होई न प्रीति

परंतु भारत के राष्ट्रधर्म का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष भी है। अवांछनीय तत्त्वों के सामने अहिंसा पर अतिरेकी बल घातक सिद्ध होता है। अतः दंड का विधान भी साथ-साथ किया गया है। दंड देने का अधिकार अवतारी पुरुषों को ही दिया है। सतयुग में इसकी आवश्यकता नहीं पड़ी परंतु त्रेतायुग में स्वयं भगवान राम को कहना पड़ा :

विनय न मानत जलधि जड़, गये तीन दिन बीत।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होई न प्रीति ।।

कोदंड उठाते ही अहंकारी सागर की उफनती लहरें नतमस्तक हो गई और वानर सेना को रामसेतु बनाकर लंका पर चढ़ाई करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

द्वापर में तो भगवान श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र के रण में स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दी–

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युथानम धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।
परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामी युगे-युगे ।।

श्रीमद्भगवद्गीता 4/7,8

अनादि काल से ही हमारी मान्यता रही है कि व्यक्ति-व्यक्ति के सदाचरण से सुपुष्ट समाज की शक्ति राष्ट्र की चिति या संस्कार बन जाता है। वही भारत का राष्ट्रधर्म है। निष्कर्ष रूप में कहना होगा कि अति सर्वत्र वर्जयते। संतुलन अथवा मध्यम मार्ग का अनुगमन ही श्रेयस्कर होता है।

संवैधानिक स्वीकृति

हमारे स्वतंत्र भारत के संविधान निर्माता उच्चकोटि के विद्वान ही नहीं, भारतीय सभ्यता और संस्कृति में रचे-पचे महान् राष्ट्रभक्त थे। तभी तो उन्होंने सार्वभौम भारत के प्रतीकचिह्न के रूप में सांची- स्तूप की चतुर्मुखी सिंह प्रतिमा के साथ-साथ धर्मचक्र और उसके नीचे लिखे ध्येय वाक्य-'सत्यमेव जयते' को चुना, ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के जिस अशोक स्तंभ को एक जर्मन सिविल इंजीनियर ने सन् 1905 में खोज निकाला था सौभाग्य से जिसका ऊपरी हिस्सा अखंडित बच गया था। वही अब काशी के निकट सारनाथ संग्रहालय में अमूल्य धरोहर के रूप में सुरक्षित है। संविधान निर्माताओं का मन्तव्य स्पष्ट है कि सत्य की विजय के लिए भी आवश्यक है कि राष्ट्र की चहुंदिश सुरक्षा हेतु 'स्वयमेव मृगेन्द्रता' भाव प्रत्येक नागरिक में हो और वह तभी संभव है जब हम अपने-अपने स्तर पर धर्म के दस लक्षणों का अनुगमन ही नहीं, पालन करें। ध्यातव्य है कि भगवान् गौतम बुद्ध ने ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् अपने पाँच विश्वस्त शिष्यों को सारनाथ में ही पहला उपदेश दिया था। सारनाथ उत्तर और दक्षिण पथ के मिलन बिंदू पर स्थित है।

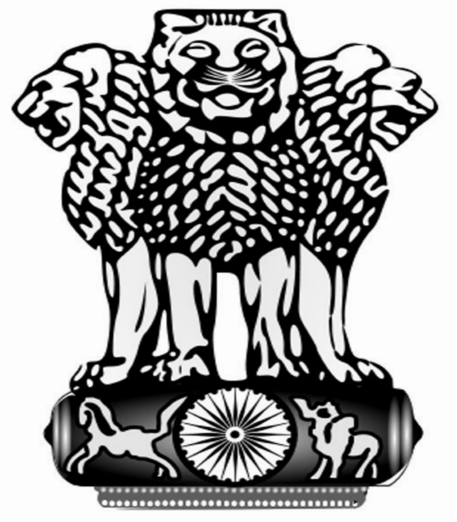

सत्यमेव जयते

राष्ट्रधर्म प्रेरित सदाचरण की इस आधारशिला को वज्र रूप देने के लिए हमारे ऋषियों-मुनियों ने वृद्धों, असहायों, महिलाओं, अबोध बालकों ही नहीं जलचरों नभचरों, भूचरों, प्रकृति के अंगोपांगों सहित अंतरिक्ष तक के साथ सह-अस्तित्व का दर्शन हम भारतीयों को दिया।

प्रसिद्ध इतिहासकार ए. एल बाशम तक को 'द वंडर दैट वाज इंडिया' नामक ग्रंथ में यह स्वीकार करना पड़ा है कि विश्व के अन्य समाजों की तुलना में भारत में दास प्रथा नगण्य थी। इतना ही नहीं दुनिया के किसी भी अन्य प्राचीन नीति नियंता ने युद्ध के मैदान में शत्रुओं के प्रति भी इतने न्यायसंगत आदर्श निर्धारित नहीं किए हैं, जितने मनु ने।

स्मृतियों में उपलब्ध निम्नलिखित उद्धरण इस संबंध में द्रष्टव्य हैं–

तूर्य मंगलघोषेणा स्वकीयं पुरमाविशेत्।
तत्प्रजाः पुत्रवत् सर्वाः पालयीतात्मसात्कृताः ॥

शुक्रनीति सार, 4/7/358

अर्थात् विजयी राजा तुरही आदि बाजों के मंगलघोष के साथ अपनी पुरी में प्रवेश करे और अपने आधीन किए गए शत्रु की सारी प्रजा का पुत्र की भाँति पालन करे। जीते हुए राज्य में मंत्र चिंतन (सलाह देने) के लिए पुराने मंत्रिमंडल को हटाकर, नए मंत्रिमंडल की नियुक्ति कर दे।

जित्वा सम्पूजयेद् देवान्,
ब्राह्मणांश् चैव धार्मिकन्।
प्रदद्यात् परिहारांश च
ख्यापयेदभयानि च ॥ *-मनुस्मृति, 7/201*

अर्थात् राजा शत्रु-राजा को जीतने पर देवताओं और धार्मिक ब्राह्मणों की पूजा करे; ब्राह्मणों को कर मुक्त भूमियों अथवा अग्रहाररूप गाँवों का दान करे। विजित

प्रदेश में उस देश के निवासियों में अभयदान की घोषणा भी करे।

यह कैसी महानता

दूसरी ओर अब तनिक दो तथाकथित महान् की करतूतों पर एक सरसरी नजर डाल लें।

पहले सिंकदर– समकालीन यूनानी इतिहासकार प्लूटार्क ने लिखा है कि ईसा पूर्व 330 में सिंकदर ने फारस (पारस) की राजधानी परसीपोलिस पर आक्रमण कर लूट-पाट और जनसंहार करने के बाद पूरे नगर को आग के हवाले कर दिया।

इस नगर को ईसा पूर्व 518 में ईरान के महान् सम्राट डेरियस प्रथम (527-486) ने बनवाया था तथा पुरानी राजधानी पसारगढ़े (प्रासादगढ़) के स्थान पर शाही खजाने, साहित्य, शास्त्र व कला आदि का केंद्र बनाया। उसके वंशजों ने 480 ईसा पूर्व यूनान के पार्थेनाटा एथेना को विजय किया था।

> **यूनानी इतिहासकार प्लूटार्क ने लिखा है कि ईसा पूर्व 330 में सिकंदर ने फारस (पारस) की राजधानी परसीपोलिस पर आक्रमण कर लूट-पाट और जनसंहार करने के बाद पूरे नगर को आग के हवाले कर दिया। समृद्ध संस्कृति व कला का केंद्र यह नगर एक खंडहर के रूप में बदल गया। 172 में से मात्र 27 खंडित स्तंम्भों का खंडहर रह गया, शेष को धराशायी कर धूल में मिला दिया।**

सिकंदर के आक्रमण के कारण परसीपोलिस जैसा समृद्ध संस्कृति व कला का केंद्र एक खंडहर के रूप में बदल गया। 172 में से मात्र 27 खंडित स्तंभों का खंडहर रह गया, शेष को धराशायी कर धूल में मिला दिया गया। यह उसने अपने सुरक्षा गार्डों की प्रेमिका 'थाईस', जो सिकंदर की भी प्रेमिका थी, के कहने पर किया। असंख्य महिलाओं का अपहरण कर उन्हें अपनी दासी बना लिया।

3000 ऊँटों पर लूटा हुआ सोना-चाँदी लाद कर अपने देश भेजा। शराब में डूबकर जश्न मनाया और भरे पूरे नगर को आग के हवाले कर दिया।

और अब अकबर—

अकबर के समकालीन इतिहास लेखक अहमद यादगार ने लिखा है– बैरम खान ने निहत्थे और बुरी तरह घायल हिंदू सम्राट हेमू के हाथ पैर बाँध दिए और उसे नौजवान शहजादे के पास ले जाकर बोला – आप अपने पवित्र हाथों से इस काफिर का कत्ल कर दें तथा 'गाजी' की उपाधि कबूल करें। और शहजादे ने उसका (हेमूका) सिर उसके अपवित्र धड़ से अलग कर दिया। (नवंबर 3, 1556ई.) (तारीख-ई- अफगान, अहमद यादगार, अनुवाद एलियट और डाउसन, खंड VI,पृ 65-66)

उस समय अकबर की आयु 14 वर्ष की थी। तत्पश्चात् हेमू के कटे सिर को काबुल भिजवा दिया गया तथा धड़ को दिल्ली दरवाजे पर टाँग दिया गया। अबुल फजल के अनुसार ''हेमू के पिता को जीवित नासिर-उल-मलिक के सामने पेश किया गया और इस्लाम कबूल करने का हुकुम सुनाया गया।''

80 वर्ष के वृद्ध द्वारा मना करने पर मौलाना परी मोहम्मद ने अपनी तलवार से उसका सर कलम कर दिया। (अकबर नामा, अबुल फजल, अनुवाद इलियट और डाउंसन, पृ. 21)

अलग - अलग प्रदेशों को जीतने के बाद अकबर हजारों वध किए गए बंदियों के कलम किए गए सरों की मीनारें बनवा कर गर्व का अनुभव करता था। केवल अकबर के शासन काल में ही 38 राजपूत राजकुमारियाँ अकबर के शाही खानदान में जबरन ब्याह कर लायी गई। इनमें से 12 अकबर के हरम में, 17 शाहजादा सलीम के, 6 दनियाल के, 2 मुरीद के और 1 सलीम के बेटे खुसरों के हरम में। इतिहासकार रमेश चन्द मजूमदार ने 'द मुगल एम्पायर' के खंड VII में ऐसी अनगिनत घटनाओं का वर्णन लिखा है जिसमें गौंडवाना की रानी दुर्गावती के जौहर तथा अजमेर के राजा भारमल की पुत्री का साम्बर से अपहरण कर अपने हरम में रहने को मजबूर करने का वर्णन भी शामिल है। उसके अत्याचारों से भयाक्रांत हजारों हिंदू महिलाओं के सती होने की लोमहर्षक गाथाएँ उसकी हैवानियत की दास्तां बयां करती हैं। और तो और अकबर ने अपने पिता समान संरक्षक बैरम खाँ को दुनिया से विदा कर, अपनी माँ की उम्र की उसकी पत्नी से शादी कर ली।

अकबर का दादा बाबर, तैमूरलंग के वंश से था और उसकी माँ चंगेज खाँ के। इस प्रकार उसकी नसों में दो क्रूर वंशों - तुर्की और मंगोल का रक्त दौड़ता था।

अकबर के जीवन के शोधकर्ता विंसेंट स्मिथ ने साफ लिखा है कि अकबर एक दुष्कर्मी, घृणित एवं नृशंस हत्याकांड करने वाला क्रूर शासक था।

इसी कारण जब कोई हमें मानवता तथा धर्मनिरपेक्षता का उपदेश देता है तो हँसी आती है, उसकी बुद्धि पर तरस आता है और क्रोध आता है उसके नापाक इरादों पर।

स्पष्ट है कि मतांध कट्टरपंथी चर्च तथा मुल्ला-मौलवियों को अंतर्मुखी होना पड़ेगा और अपने अधिसंख्य भोले-भाले अनुयायियों को गुमराह करने के स्थान पर निर्दोष-निष्कलंक भारत के राष्ट्रधर्म को अंगीकार करने के लिए प्रेरित करना पड़ेगा। भारत में अपने-अपने मत और पंथ को मानने की स्वतंत्रता हमेशा थी, है और रहेगी। परन्तु राष्ट्रधर्म की अनुपालना का कोई विरोध अथवा विकल्प स्वीकार्य नहीं हो सकता। उसकी अनिवार्यता राष्ट्र की संजीवनी शक्ति है जिसकी सौदेबाजी करने की इजाजत राष्ट्रधर्म और राष्ट्र का संविधान किसी को नहीं देता।

गोस्वामी तुलसी दास कृत श्री रामचरितमानस के लंका कांड में वर्णित निम्नलिखित प्रसंग प्रकारांतर से भारत के राष्ट्रधर्म की ही अभिव्यक्ति है, जिसे उद्धृत कर मैं अपनी बात का समापन कर रहा हूँ। रावण को 'रथी' और श्री रघुवीर को युद्धभूमि में 'विरथी' देखकर विभीषण अधीर और शंकित हो उठा। विभीषण के भय और शंका निवारणार्थ भगवान् राम ने जो उत्तर दिया वह शब्दशः भारत के राष्ट्रधर्म का उद्घोष है।

सुनहु सखा कह कृपानिधाना।
जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना।।
सौरज धीरत तेहि रथ चाका।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।।
बल बिबेक दम परहित घोरे।
छमा कृपा समता रजु जोरे।।
ईस भजनु सारथी सुजाना।
बिरति चर्म संतोष कृपाना।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा।
बर बिग्यान कठिन कोदंडा।।
अमल अचल मन त्रोन समाना।
सम जम नियम सिलीमुख नाना।।
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा।
एहि सम बिजय उपाय न दूजा।।
सखा धर्ममय अस रथ जाकें।
जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें।।
महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर ।

श्री रामचरितमानस, 6, 80 क

(लेखक चिंतक, शिक्षा शास्त्री और लेखक है।)

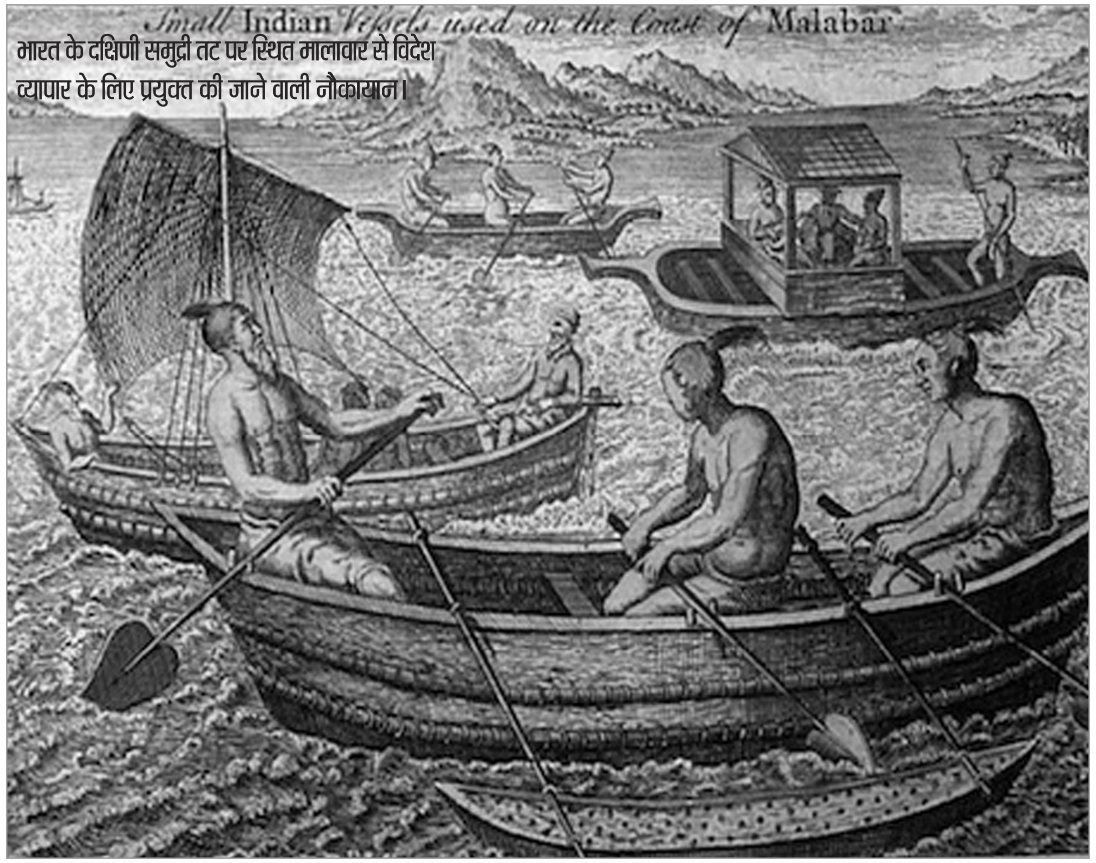
Small Indian Veſsels used on the Coast of Malabar

भारत के दक्षिणी समुद्री तट पर स्थित मालावार से विदेश व्यापार के लिए प्रयुक्त की जाने वाली नौकायान।

भारत में आर्थिक चिंतन की विशद् और सुदृढ़ परंपरा है। भारतीय मनीषियों ने जीवन को खंड-खंड रूप में देखने के स्थान पर व्यक्ति और समष्टि के बीच तादात्मय स्थापित करते हुए उसका सर्वांगीण रूप से चिंतन किया है। इसी दृष्टि से व्यक्ति के जीवन के लिए चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष निर्धारित किए हैं। पश्चिम ने जहाँ केवल भौतिक उन्नति और अर्थ व काम को प्रधानता दी है, वहीं भारत में अर्थ व काम के साथ ही धर्म व मोक्ष को भी समान रूप से महत्त्व दिया है। इसके अंतर्गत धर्मयुक्त जीवन जीते हुए काम और अर्थ की सिद्धि से मोक्ष प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य है। शुक्राचार्य, विदुर, मनु और कौटिल्य की प्राचीन परंपरा में ही आधुनिक काल में महात्मा गांधी व पंडित दीन दयाल उपाध्याय आदि मनीषियों ने जीवन के विविध पहलुओं पर सम्यक् रूप से चिंतन-मनन किया है। भारत में वैदिक काल से ही आर्थिक जीवन कृषि और गोपालन पर आधारित था। इसी क्रम में जीवन की आवश्यकताओं के आधार पर उद्योग-धंधे पनपे। वाणिज्य व व्यापार फला-फूला, यहाँ तक की भारतीय उत्पाद सड़क व समुद्री मार्ग से दूर-दराज के देशों में भी भेजे जाने लगे। जीवन में चतुर्दिक् समृद्धि आई और ज्ञान-विज्ञान के साथ ही 64 कलाओं का विकास हुआ। प्रस्तुत है भारत के इसी विशद् आर्थिक चिंतन पर एक विहंगम दृष्टिपात करता श्री ओम प्रकाश मिश्र का यह लेख–

ओम प्रकाश मिश्र

प्राचीन भारतीय आर्थिक चिंतन

प्राचीन भारतीय आर्थिक चिंतन पर विचार करने की पूर्व भूमिका में कठोपनिषद् में नचिकेता का यम से कथन, हमारी मनीषा को स्पष्ट करता है —

''न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव।।''

कठोपनिषद् (1.1.27)

अर्थात् धन से मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता। आग में घी डालने से जैसे आग जोरों से भड़कती है, उसी प्रकार धन और भोगों की प्राप्ति से भोग–कामना का और भी विस्तार होता है। वहाँ तृप्ति कैसी? वहाँ तो दिन–रात अपूर्णता और अभाव की अग्नि में ही जलना पड़ता है। ऐसे दुःखमय धन और भोगों की माँग कोई बुद्धिमान पुरुष कर सकता है क्या ?

भारत राष्ट्र में 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की आधार भूमि पर हमारी आर्थिक चिंतन–सरणि बनी है। पाश्चात्य जीवन–दृष्टि में मात्र भौतिकवाद पर जोर है, हमारी संस्कृति में 'धर्म', 'अर्थ', 'काम' और 'मोक्ष' चारों पर सम्यक् दृष्टि रखते हुए राष्ट्रहित, मानव–कल्याण एवं समस्त जगत् के कल्याण का लक्ष्य निहित है।

पाश्चात्य जगत् ऐसा कहता है कि अर्थशास्त्र उन्होंने आरंभ किया। वस्तुतः हमारे मनीषियों ने 'अर्थ' को प्राधान्य न देते हुए , जीवन पर समग्रता से विचार किया है। हमारे वेदव्यास, महर्षि वाल्मीकि, विदुर, शुक्र , मनु, कौटिल्य आदि महात्माओं एवं मनीषियों के अनेक ऐसे उद्धरण एवं तत्त्व मिलते हैं, जिनसे भारतीय अर्थ चिंतन का सम्यक् दर्शन होता है।

यह नितांत भ्रममूलक

अवधारणा है कि हमारे मनीषियों की दृष्टि चूँकि धर्म और अध्यात्म प्रधान थी, अस्तु हमारा चिंतन भौतिक समस्याओं व आर्थिक जीवन की अनदेखी करता है। वस्तुत: भारतीय चिंतन धारा में भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के मध्य तादात्म्य है। हमारे यहाँ अनियंत्रित प्रतियोगिता व लाभ की वृत्ति को उचित नहीं माना गया है।

कृषि एवं पशुपालन

वैदिक काल में आर्थिक जीवन, कृषि एवं पशुपालन पर आधारित था। हम कृषि को महत्त्व देते थे कि हमने पृथ्वी को माता की दृष्टि से देखा। ‘अथर्ववेद’ के पृथ्वी सूक्त में कहा गया है —

‘‘तासु नो धेह्यभि न: पवस्व
माता भूमि: पुत्रो अहं पृथिव्या: ॥’’

अथर्ववेद 12.1.12

पृथ्वी मेरी माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ।

वेद के एक मंत्र में कहा गया कि पासों का खेल न खेलो, कृषि कार्य करना, उससे उपभोग करना उत्तम है—

‘‘अक्षैर्मा दीव्य: कृषिमित्कृषस्व वित्ते
रमस्व बहु मन्यमान:।
तत्र गाव: कितव तत्र जाया तन्मे
वि चष्टे सवितायमर्य: ।।’’

ऋग्वेद 10.34.13

वैदिक युग में गाय का आर्थिक जीवन में इतना महत्त्व था कि विनिमय के माध्यम के रूप में गाय का मूल्य के मापक के रूप में भी प्रयोग होता था —

‘‘क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभि:’’

ऋग्वेद 4.24.10,

ऋषि पूछ रहे हैं, ‘‘वह कौन है जो इन्द्र की प्रतिमा को दस गाय के बदले में क्रय कर रहा है?’’

वैदिक युग में वस्तुओं का क्रय-विक्रय आरंभ हो गया था, परंतु प्रचलन में ज्यादातर वस्तु विनिमय-प्रणाली (Barter System) थी।

भारत के प्राचीनतम ग्रंथ ‘ऋग्वेद’ में विकेंद्रीकृत उद्योग, वाणिज्य, व्यापार एवं कृषि आदि सभी क्षेत्रों में परिवार को एक मूल आर्थिक इकाई के रूप में मान्यता थी।

‘ऋग्वेद’ में पूँजी को परिवार के उत्पादक संसाधनों का रूप माना गया है।

‘ऋग्वेद’, ‘अथर्ववेद’ व ‘यजुर्वेद’ में बड़े-बड़े जहाजों द्वारा विश्व भर में व्यापार करने, नीतिपूर्वक संपत्ति-अर्जन करने एवं भौगोलिक दृष्टि से उद्यमों को अनेक स्थानों पर स्थापित करने का उल्लेख मिलता है।’’ *–प्रो. भगवती प्रकाश : ‘रिप्लेसिंग कीन्स विद कौटिल्य’*

वैदिक काल के बाद, ‘रामायण’ व ‘महाभारत’ के समय में भी भारतीय आर्थिक चिंतन सरणि क्रमबद्ध रही। महाभारत के सभापर्व में (अध्याय 51 तथा 52) उन भेंट-उपहारों का बड़े विस्तार से उल्लेख है जो विभिन्न राज्यों ने विभिन्न प्रकार के वस्त्रों (रेशमी, ऊनी, सूती) को महाराजा युधिष्ठिर को भेंट किए थे। यानी वस्त्र उद्योग उस काल में उन्नत अवस्था में था।

> **यह नितांत भ्रममूलक अवधारणा है कि हमारे मनीषियों की दृष्टि चूँकि धर्म और अध्यात्म प्रधान थी, अस्तु हमारा चिंतन भौतिक समस्याओं व आर्थिक जीवन की अनदेखी करता है। वस्तुतः भारतीय चिंतन धारा में भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के मध्य तादात्म्य है। हमारे यहाँ अनियंत्रित प्रतियोगिता व लाभ की वृत्ति को उचित नहीं माना गया है।**

उद्योग एवं श्रम

भारतीय जीवन प्रणाली में श्रम एवं उद्योग का महत्त्व आदिकाल से है। ऋग्वेद में कहा गया है कि जो श्रम नहीं करता, उसके साथ देवता मित्रता नहीं करते —

‘‘ न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा:’’

ऋग्वेद 4.34.11,

‘यजुर्वेद’ में कहा गया है कि हम उत्कृष्ट और शुभ जीवन के लिए उद्योगशील हों—

‘‘उदायुषा स्वायुषोदस्थाम्’’

यजुर्वेद 4.28

श्रम के महत्त्व का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि श्रमशील मनुष्य ही जीवन के माधुर्य को पाता है। सूर्य के श्रम से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जो सदैव चलता रहता है और कभी भी आलस्य नहीं करता, इसीलिए निरंतर श्रम करने के लिए कहा गया है—

‘‘चरन्वै मधुविन्दति, चरन्स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं, यो न तन्द्रयते चरन्।’’

ऐतरेय ब्राह्मण 7.15

उपर्युक्त से स्पष्टत: परिलक्षित होता है कि हमारे पुरखे, अर्थचिंतन एवं उसके लिए श्रम, उद्यम, उद्यमिता के प्रति सजग थे। लक्ष्मी शब्द का अर्थ है-जो शक्ति स्वयं उद्यमी को लक्ष्य बनाती है-‘लक्ष्यति उद्योगिनम्’ (लक्षि+मुट+ ई = लक्ष्मी)। लक्ष्मी किसी आलसी का वरण नहीं करती, आलसी पर कृपा नहीं करती। भारतीय चिंतन में लक्ष्मी का पूजन, धन-धान्य की देवी के रूप में होता है। लक्ष्मीमाता सार्थक व सोद्देश्य प्रयत्न की अधिष्ठात्री हैं। अस्तु, भारतीय चिंतन पर ‘अर्थ’ की अनदेखी करने का विचार पूर्णत: असत्य है।

संतुलित उपभोग

भारतीय जीवन-पद्धति में असीमित उपभोग को निषिद्ध किया गया है। हमारे यहाँ संतुलित एवं आवश्यक उपभोग की व्यवस्था है। त्यागपूर्वक उपभोग को श्रेष्ठ माना गया है— ईशावास्योपनिषद् के प्रथम श्लोक में कहा गया है—

‘‘ईशा वास्यमिदं सर्वं
यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा
मा गृध: कस्य स्विद् धनम्।।’’

ईशावास्योपनिषद् (श्लोक एक),

अर्थात् अखिल ब्रह्मांड में जो कुछ भी है (चेतन स्वरूप जगत्), यह समस्त ईश्वर से व्याप्त है। उस ईश्वर को साथ रखते हुए, त्यागपूर्वक (इसे) भोगते रहो, (इसमें) आसक्त मत रहो, (क्योंकि) धन-भोग्य पदार्थ किसका है यानी किसी का भी नहीं है।

वैदिक काल में अर्थ के लालच को निंदनीय समझा जाता था, महाभारत काल तक आते-आते ‘अर्थ’ की महत्ता स्थापित हुई क्योंकि भीष्म ने स्पष्ट कहा था कि जगत् की स्थिति ‘वार्ता’ पर आधारित है, यद्यपि उनके इस कथन में धन की लोलुपता का भाव नहीं था। रामायण काल तक मुद्रा का प्रचलन हो गया था। कृषि, उद्योग एवं व्यापार स्थापित हो चुका था। विनिमय का सफल संचालन था। वस्तुत:

> **हमारे पुरखे, अर्थचिंतन एवं उसके लिए श्रम, उद्यम, उद्यमिता के प्रति सजग थे। लक्ष्मी शब्द का अर्थ है-जो शक्ति स्वयं उद्यमी को लक्ष्य बनाती है। लक्ष्मी किसी आलसी का वरण नहीं करती, आलसी पर कृपा नहीं करती। लक्ष्मीमाता सार्थक व सोद्देश्य प्रयत्न की अधिष्ठात्री हैं। अस्तु, भारतीय चिंतन पर ‘अर्थ’ की अनदेखी करने का विचार पूर्णतः असत्य है।**

'वार्ता' शब्द का अभिप्राय वित्त, राजस्व या राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के रूप में था।

रामायण एवं महाभारत के समय में आर्थिक चिंतन विकसित रूप में आ गया था। धर्म, राजसत्ता, अर्थनीति, राजनीति, यह सब एक दूसरे से निकटतः जुड़े हुए थे। भारतीय समाज खंड-खंड करके विचार नहीं करता था, वह जीवन का समग्रता से विचार करता था। यह भारतीय अर्थचिंतन का मूलतत्त्व है।

शुक्रनीति

असुरों के गुरु शुक्राचार्य महान् विद्वान थे। भारतीय अर्थचिंतन में 'शुक्रनीति' का योगदान उल्लेखनीय है, इसके विषयों में पूरा शासनतंत्र, कर व्यवस्था, कोषाध्यक्ष, वेतन, छुट्टियाँ, पेंशन, व्यापार, क्रय/विक्रय, ऋण आदि विभिन्न आर्थिक विषयों को समग्र चिंतन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पाश्चात्य विद्वान ऐसा समझते हैं कि कर्मचारियों के कल्याण हेतु पेंशन की व्यवस्था उन्हीं की देन है, लेकिन भारतीय अर्थचिंतन में शुक्रनीति में पेंशन की मात्रा तक का उल्लेख है—

रामायण एवं महाभारत के समय में आर्थिक चिंतन विकसित रूप में आ गया था। धर्म, राजसत्ता, अर्थनीति, राजनीति, यह सब एक दूसरे से निकटतः जुड़े हुए थे। भारतीय समाज खंड-खंड करके विचार नहीं करता था, वह जीवन का समग्रता से विचार करता था। यह भारतीय अर्थचिंतन का मूलतत्व है।

''चत्वारिंशत्समा नीताः सेवया येन वै नृपः।
ततः सेवां विना तस्मै भृत्यर्द्धं कल्पयेत्सदा।।
यावज्जीवं तु तत्पुत्रेऽक्षमे बाले तदर्द्धकम्।
भार्यायां वा सुशीलायां कन्यायां वा स्वश्रेयसे।।''

'शुक्रनीति' : 2.410,411

भाव यह है कि यदि किसी कर्मचारी को सेवा करते-करते चालीस वर्ष हो गए हों तो राजा को चाहिए कि वह उससे बिना कोई सेवा लिए आजीवन आधा वेतन बतौर पेंशन देता रहे। ऐसे कर्मचारियों के पुत्रों को कार्य करने योग्य होने तक, राजा उनके पिता के वेतन का एक चौथाई भाग दे। पत्नी एवं अविवाहित पुत्री को भी पेंशन का आधा भाग दिया जाना चाहिए।

शुक्राचार्य का स्पष्ट निर्देश है कि राजा को कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे प्रजा का अहित होता हो।

हितं राज्ञश्चाहितं यल्लोकानां तन्न कारयेत्।
नवीन कर शुल्काद्यैर्लोक उद्विजते ततः।।

'शुक्रनीति' 2.273

इसमें शुक्राचार्य कहते हैं कि यदि राजा कोई ऐसा कार्य कर रहा है, जिसमें केवल राजा का ही लाभ है तथा प्रजा का अहित है तो राजा को ऐसे कार्य करने से रोकें। नवीन कर एवं शुल्क लगाने से प्रजा भड़क उठती है।

विदुर नीति

'महाभारत' में समाहित 'श्रीमद्भगवद्गीता' एवं 'विदुरनीति' दो महत्त्वपूर्ण आधार हैं। महात्मा विदुर की नीतिपरक शिक्षाएँ भारतीय विचार सरणि की महत्त्वपूर्ण इकाई हैं। कराधान पर उनके विचार श्रेष्ठ हैं—

''यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया।।''

'विदुरनीति' अध्याय 2.17

अर्थात् जिस प्रकार भौंरा फूलों को नुकसान पहुँचाए बिना उनका रस चूसता है, उसी प्रकार राजा को भी प्रजा से कर के रूप में धन इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए कि उसे कष्ट न हो।

''पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्।
मालाकार इवारामे न यथांगार कारकः।।''

'विदुरनीति' अध्याय 2.18

जैसे बगीचे का माली पौधों से पुष्प तोड़ लेता है, पौधों को जड़ों से नहीं काटता, इसी प्रकार राजा प्रजा से फूलों के समान कर ग्रहण करे। कोयला बनाने वाले की तरह उसे जड़ से न काटे।

महात्मा विदुर धर्मपूर्वक अर्थोपार्जन के पक्षधर हैं—

''समवेक्ष्येह धर्मार्थौ सम्भारान् योऽधिगच्छति।
स वै सम्भृतसम्भारः सतत सुखमेधते।।

'विदुरनीति' अध्याय 2.67

जो व्यक्ति धर्म और अर्थ के बारे में भलीभाँति विचार करके, न्यायोचित रूप से अपनी समृद्धि के साधन जुटाता है, उसकी समृद्धि बराबर बढ़ती रहती है और वह सुख साधनों का भरपूर उपयोग करता है।

वस्तुतः महाराज मनु ही श्रम विभाजन के सिद्धांत के जनक हैं। भारतीय परिवेश में मनु द्वारा प्रतिपादित श्रम विभाजन का सिद्धांत मूलरूप से कर्म पर आधारित हैं। जो अनेक कारणों से रूढ़िग्रस्त हो गया तथा जन्मगत जाति के रूप में बदल गया। आर्थिक क्षेत्र में, भारत ही नहीं समस्त जगत् में श्रम विभाजन आज भी प्रचलित है।

''श्रीर्मंगलात् प्रभवति प्रागल्भात् सम्प्रवर्धते।
द्राक्ष्यात्तु कुरुते मूलं संयमात् प्रतितिष्ठति।।

'विदुरनीति' अध्याय 3.52

अच्छे कर्मों से धन लक्ष्मी की उत्पत्ति होती है, चातुर्य से वह वृद्धि करती है, कौशल से जड़ जमा लेती है और धीरता से स्थायी होती है।

''अर्थ सिद्धिं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चरेत्।
नहि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोका दिवामृतम्।।''

'विदुरनीति' अध्याय 5.48

जो व्यक्ति धन, ऐश्वर्य व संपत्ति का इच्छुक है, उसे अपना पूरा जीवन धर्माचरण में बिताना आवश्यक है, क्योंकि धर्म, अर्थ के साथ वैसा ही जुड़ा है, जैसे स्वर्ग के साथ अमृत।

मनुस्मृति

प्राचीन भारतीय चिंतन सरणि में स्मृतियों को अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सबसे प्राचीन स्मृति महर्षि मनु की 'मनुस्मृति' है। मनुस्मृति में जीवन की कोई भी बात छूट नहीं पाई है। श्रम विभाजन (डिविजन ऑफ लेबर) के सिद्धांत का प्रतिपादन मनुस्मृति में है। शासन-व्यवस्था, परिवार, समाज के लिए पूरी 'मनुस्मृति' एक ऐसा ग्रंथ है, जिससे सभी नागरिकों हेतु क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए का पूरा उल्लेख है। ज्यादातर लोग 'मनुस्मृति' का अवलोकन किए बिना ही उस पर अपनी राय रखने लगते हैं।

वस्तुतः महाराज मनु ही श्रम विभाजन के सिद्धांत के जनक हैं। भारतीय परिवेश में मनु द्वारा प्रतिपादित श्रम विभाजन का सिद्धांत मूलरूप से कर्म पर आधारित हैं, जो अनेक कारणों से रूढ़िग्रस्त हो गया तथा जन्मगत जाति के रूप में बदल गया। आर्थिक क्षेत्र में, भारत ही नहीं समस्त जगत् में श्रम विभाजन आज भी प्रचलित है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक नीत्से ने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'मनुस्मृति' बाइबिल से भी महान् ग्रंथ है *('आर्थिक विचारों का इतिहासः डॉ. बी. बी. सिन्हा एवं जी.सी.सिंघई, पृष्ठ 466)'*

'मनुस्मृति' में 'पर्यावरण' तथा 'पर्यावरण-संरक्षण', राजा एवं शासन-व्यवस्था, मूल्य तथा वेतन नीति, ब्याज, नौपरिवहन की दरें, व्यापारियों पर नियंत्रण, कराधान एवं वित्तीय नीति, विभिन्न वस्तुओं पर कर की दरें, महिलाओं के संपत्ति संबंधी

अधिकार, एक श्रेष्ठ राजा के गुणों आदि विषयों पर गहराई से विचार किया गया है तथा आवश्यक निर्देश भी दिए गए हैं।

'मनुस्मृति' के दसवें अध्याय में जीवनोपयोगी व्यापारों एवं सात धर्ममार्ग से आने वाले धन का उल्लेख है।

सप्त वित्तागमा धर्म्यादायो लाभ क्रयो जयः।
प्रयोग कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ।।
विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्षं विपणिः कृषिः।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवन हेतवः।।

'मनुस्मृति' 10. 115/116

अर्थात् दाय (पुरखों की संपत्ति), लाभ (भूमि में गड़े हुए धन की प्राप्ति), क्रय (खरीदना), जय (जीतकर लेना), प्रयोग (ब्याज पर धन देने से), कर्मयोग (कृषि और वाणिज्य) ये सात धर्म मार्ग से आने वाले धन के हैं; विद्या, शिल्प, वेतन लेकर काम करना, सेवा, गोरक्षा, रोजगार, खेती, संतोष, भिक्षा और ब्याज का व्यापार ये दस जीवनोपयोगी व्यापार हैं।

> **'मनुस्मृति' में उल्लेख है कि एक व्यक्ति कीमत का निर्धारण नहीं करेगा। इस कार्य के लिए एक बोर्ड होगा। उसमें भेदभाव, पक्षपात व भाई-भतीजावाद का स्थान नहीं होगा। बोर्ड में नियुक्ति पूर्णतः योग्यता के आधार पर होगी। सर्वप्रथम 'मनुस्मृति' में राज्य द्वारा निर्धारित कीमतों का विवरण मिलता है।**

कराधान

कराधान (Taxation) पर मनु ने पूरा मार्गदर्शन 'मनुस्मृति' के सातवें अध्याय में किया है। इसमें विभिन्न आर्थिक क्रियाओं पर कर की दर का भी उल्लेख किया गया है।

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः।।
पंचाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।।
धान्यानाम्ष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा।।

मनुस्मृति 7.129, 130

अर्थात्, जिस प्रकार (षटपद) जोंक, बछड़ा और भ्रमर थोड़ा-थोड़ा अपना भख्य खाते हैं, उसी प्रकार प्रजा से थोड़ा-थोड़ा ही वार्षिक कर राजा को लेना चाहिए। व्यापारियों से पशु और स्वर्ण के लाभ का पचासवाँ भाग और कृषकों से अन्न का छठा, आठवाँ या बारहवाँ भाग राजा को लेना चाहिए।

मूल्य निर्धारण

'मनुस्मृति' में उल्लेख है कि एक व्यक्ति कीमत का निर्धारण नहीं करेगा। इस कार्य के लिए एक बोर्ड होगा। उसमें भेदभाव, पक्षपात व भाई-भतीजावाद का स्थान नहीं होगा। बोर्ड में नियुक्ति पूर्णतः योग्यता के आधार पर होगी। सर्वप्रथम 'मनुस्मृति' में राज्य द्वारा निर्धारित कीमतों का विवरण मिलता है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र

भारतीय अर्थचिंतन के क्षेत्र में आचार्य चाणक्य, जिन्हें कौटिल्य के नाम से भी जाना जाता है, का योगदान अप्रतिम है। उन्हें भारतीय अर्थचिंतन को समग्र रूप से, पहली बार, स्थापित करने का श्रेय है। मनुष्य, राज्य, समाज, राष्ट्र एवं पूरी सृष्टि के लिए उनका चिंतन, भारतीय परपंराओं के अनुरूप एकात्मकता का भाव लिए हुए है। उनकी अमर कृति 'अर्थशास्त्र' अर्थचिंतन के जगत् में ध्रुवतारे की भाँति हैं। अर्थशास्त्र की मूल धारणा का उपभोग, उत्पादन एवं न्यायपूर्ण वितरण (जिसे कल्याण भी कहा जा सकता है) के क्षेत्र में, 'कौटिल्य का अर्थशास्त्र' एक ऐसा विश्वकोश है, जिसका अध्ययन करके संपूर्ण अर्थव्यवस्था का आयोजन किया जा सकता है।

कौटिल्य की दृष्टि में अर्थशास्त्र को इस प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है—

''मनुष्याणां वृत्तिरर्थः मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः,
तस्या पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थ शास्त्रमिति।''

'कौटिल्य अर्थशास्त्र', अध्याय 15, प्रथम युक्ति

अर्थात् जो मनुष्यों को वृत्ति अथवा आजीविका प्रदान करता है, उसे अर्थ कहते हैं। मनुष्य से युक्त भूमि को भी 'अर्थ' कहते हैं। मनुष्य की आजीविका के प्राकृतिक संसाधन जो भूमि के अंदर और बाहर हैं, वह अर्थ है। उसकी प्राप्ति तथा पालन एवं व्यवहार के जो उपाय किए जाते हैं, उनकी विवेचना करने वाले ज्ञान के क्षेत्र को अर्थशास्त्र कहते हैं। यहाँ पर प्राकृतिक संसाधनों एवं मानवीय संसाधनों के तादात्म्य पूर्वक प्रयोग से संबंधित विषय अर्थशास्त्र की विषयवस्तु है। अतः कौटिल्य के मतानुसार प्रकृति एवं मनुष्य के मध्य रक्षण व पालन-पोषण का सिद्धांत, अर्थशास्त्र की अवधारणा में समाहित है।

> **जो मनुष्यों को वृत्ति अथवा आजीविका प्रदान करता है, उसे अर्थ कहते हैं। मनुष्य से युक्त भूमि को भी 'अर्थ' कहते हैं। मनुष्य की आजीविका के प्राकृतिक संसाधन जो भूमि के अंदर और बाहर हैं, वह अर्थ है। उसकी प्राप्ति तथा पालन एवं व्यवहार के जो उपाय किए जाते हैं, उनकी विवेचना करने वाले ज्ञान के क्षेत्र को अर्थशास्त्र कहते हैं।**

कौटिल्य हमारे भारत राष्ट्र एवं पूरी मानवता के लिए अर्थशास्त्र की जो परिभाषा देते हैं, वह पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों की परिभाषाओं, [1.एडम स्मिथ- ''अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है''। 2. मार्शल- भौतिक कल्याण की परिभाषा है जिसमें सामाजिक एवं मानवीय व्यवहारों की जाँच करता है, जिनका कल्याण के भौतिक साधन प्राप्त करने से संबंध है। 3. राबिन्स- अर्थशास्त्र अनंत आवश्यकताओं एवं सीमित साधनों के बीच मानवीय व्यवहार का अध्ययन है। यानी अर्थशास्त्र चयन (Choice) का विज्ञान है] से श्रेष्ठ है।'' अर्थशास्त्र की जितनी उत्तम परिभाषा आचार्य कौटिल्य ने दी है, वह समस्त जगत् में वरेण्य है।

कौटिल्य ने राज्य आधारित अर्थव्यवस्था हेतु नीति-निर्माण किया। उनकी अर्थनीति के प्रमुख तीन सिद्धांत हैं—

राज्य के स्वामित्व में उद्योग

इसके अंतर्गत वे उद्योग आएँगे, जिनके ऊपर राज्य का पूर्णस्वामित्व रहेगा, जिनका संचालन राज्य द्वारा ही किया जाएगा। इन उद्योगों की पूँजी, श्रम तथा प्रबंध पूर्णतः राज्य पर होगा। ऐसी औद्योगिक नीति का स्पष्ट उद्देश्य एक ऐसे राष्ट्र की स्थापना एवं उन्नति होगा, जो अपने आप में शक्तिशाली, साधन संपन्न एवं आत्मनिर्भर होगा, जिसे दैनंदिन आर्थिक आवश्यकताओं हेतु अन्य देशों का मुँह न ताकना पड़े। इनमें आधारभूत उद्योग जैसे-लोहा, लवण, सोना-चाँदी, टिन, ताँबा आदि आएँगे।

निजी स्वामित्व में उद्योग

दूसरे प्रकार के उद्योग, राष्ट्र के सामान्य नागरिकों द्वारा स्थापित एवं संचालित होंगे। इनकी पूँजी, श्रम, एवं प्रबंध की जिम्मेदारी, राष्ट्र के नागरिकों की होगी। इन उद्योगों में कृषि, पशुपालन, सूत तथा विभिन्न कलाओं के क्षेत्र होंगे। (ध्यान रहे उस काल में उद्योग या उद्यम शब्द सभी प्रकार के व्यवसायों के लिए प्रयुक्त होता था।)

उत्पादन और वितरण का नियमन

तीसरे सिद्धांत में, ऐसी व्यवस्था निर्धारण की थी, जिसमें उत्पादन, उपभोग एवं वितरण के लिए शासन को अधिकार रहेगा। इस सिद्धांत से यह स्पष्ट है कि कौटिल्य, समस्त आर्थिक क्रियाओं पर शासन का

नियमन चाहते थे।

कौटिल्य मानते थे कि समाज में 'अर्थ' का महत्त्व होता है। क्योंकि 'काम' व 'धर्म' हेतु 'अर्थ' की व्यवस्था करना आवश्यक है।

सुदृढ़ राष्ट्र के लिए सबल कोष

कौटिल्य एक मजबूत राष्ट्र के लिए सबल राष्ट्रीय कोष के पक्षधर थे। अस्तु कोष के लिए सुरक्षा, कर्मियों की व्यवस्था, करारोपण, उसकी दरों के विषय में सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उनकी कर व्यवस्था, कल्याणकारी राज्य की स्थापना हेतु है—

''पक्वं पक्व मिवारामात् फलं राज्यादवाप्नुयात्।
आत्मच्छेदभयादामं वर्जयेत् कोपकारकम्।।''

कौटिल्य: 'अर्थशास्त्र' 5 .2. 90

राजा को चाहिए कि वह दुष्ट पुरुषों का धन, उसी प्रकार ले ले, जिस प्रकार वाटिका से पके फल को लिया जाता है, किंतु धर्मात्मा पुरुषों का धन वह उसी प्रकार छोड़ दे, जैसे कच्चे फल को छोड़ दिया जाता है। कच्चे फल के समान, धर्मात्मा पुरुषों से वसूला गया धन प्रजा के कोप का कारण बन जाता है।

अर्थात् राजा को चाहिए कि वह दुष्ट पुरुषों का धन, उसी प्रकार ले ले, जिस प्रकार वाटिका से पके फल को लिया जाता है, किंतु धर्मात्मा पुरुषों का धन वह उसी प्रकार छोड़ दे, जैसे कच्चे फल को छोड़ दिया जाता है। कच्चे फल के समान, धर्मात्मा पुरुषों से वसूला गया धन प्रजा के कोप का कारण बन जाता है।

चाणक्य द्वारा प्रणीत सूत्रों का प्रारंभ ही उनकी दृष्टि को स्पष्ट करता है—

''सुखस्य मूलं धर्मः।।
धर्मस्य मूलमर्थः ।।
अर्थस्य मूलं राज्यम् ।।
राज्यमूलमिन्द्रियजयः ।।
इन्द्रिय जयस्य मूलं विनयः ।।
विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा।
वृद्धसेवाया विज्ञानम्।।
विज्ञाने-नात्मानं संपादयेत।।''

चाणक्य प्रणीत सूत्र (1-8)

अर्थात्, सुख का मूल धर्म है। धर्म का मूल अर्थ है। अर्थ का मूल राज्य है। राज्य का मूल इन्द्रियजय है। इन्द्रियजय का मूल विनय (नम्रता) है। विनय का मूल वृद्धों की सेवा है। वृद्धों की सेवा का मूल विज्ञान है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आपको विज्ञान संपन्न बनाए।

आगे चाणक्य कहते है:-

''संपादितात्मा जितात्मा भवति।।
जितात्मा सर्वार्थैः संयुज्येत् ।।''

चाणक्य प्रणीत सूत्र (9-10)

अर्थात् जो पुरुष विज्ञान से संपन्न होता है, वह स्वयं को भी जीत सकता है। अपने ऊपर काबू पाने वाला मनुष्य समस्त अर्थों से संपन्न होता है।

यह आचार्य चाणक्य की जीवन दृष्टि है जिसमें धर्म, अर्थ, इन्द्रिय जय, विनय, वृद्धों की सेवा, विज्ञान, आत्मज्ञान स्वयं पर नियंत्रण आदि विषयों पर समग्ररूप में विचार करते हुए राष्ट्रचिंतन करते हैं।

चाणक्य के अर्थशास्त्र संबंधी चिंतन में, राजा के कार्य व्यापार, समाहर्ता का कर संग्रह कार्य, कर वसूली के नियम, मुद्राविभाग, ऋण लेने, धरोहर संबंधी नियम, मजदूरी के नियम, क्रय एवं विक्रय, कोष का अधिकाधिक संग्रह, राज्य कर्मचारियों के भरण पोषण, क्षय-व्यय एवं लाभ पर विचार तथा समस्त राज्य की व्यवस्था करने के नियमों का विस्तृत उल्लेख किया गया है। कौटिल्य ने एक ऐसा ग्रंथ रचा, जिसको केंद्र में रखकर राज्य व्यवस्थाएँ सुचारू रूप से संचालित की जा सकती हैं।

विदेश व्यापार

कौटिल्य ने विदेश व्यापार के महत्त्व को भली प्रकार से समझकर, राज्य की आय एवं संपत्ति को बढ़ाने के लिए, उसे महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान की। उन्होंने विदेश व्यापार को बढ़ाने के लिए करों में छूट एवं कुछ प्रोत्साहन देने का पक्ष लिया। कौटिल्य ने तटकरों (Tariffs) को उपयोग में लाकर, निर्यात एवं आयात दोनों में प्रयोग करने को कहा। विदेश से आयात होने वाली विलासिता की वस्तुओं पर भारी कराधान लगाने की सलाह दी। दूसरी ओर सामान्य उपभोग की वस्तुओं के आयात पर कम कर लगाने का सुझाव दिया। कौटिल्य ने आधारभूत ढाँचे (Infrastructure) को राष्ट्र के निर्माण, वाणिज्य तथा व्यापार की गतिविधियों को बढ़ाने में आवश्यक समझा था।

महात्मा गांधी, मनुष्य को केवल हाड़-माँस का भौतिक पुतला नहीं, वरन् एक दैवीय सार्वजनीन आध्यात्मिक पुट लिए हुए एक इकाई मानते थे। वे विकास का अर्थ मात्र भौतिक विकास से नहीं लेते थे, वरन् एक समग्र विकास की अवधारणा, सामाजिक सरोकारों से जुड़ी थी। उनका लक्ष्य मनुष्य का एकीकृत विकास था, जिसमें सभी के सहयोग से मनुष्य का सर्वांगीण विकास होगा।

भारत के स्वतंत्रता-संग्राम के काल में जो राष्ट्रीय नेतृत्व भारत को मिला, उसमें अनेक विचारक अर्थशास्त्री के रूप में भी उल्लेखनीय हैं। दादा भाई नौरोजी की पुस्तक 'भारत में गरीबी के कारण' में यह स्थापित किया गया कि भारत में गरीबी का कारण ब्रिटिश शासन था। जस्टिस रानाडे, रमेश चन्द्र दत्त, गोपाल कृष्ण गोखले आदि ने भारतीय अर्थव्यवस्था से संबंधित विषयों का निरूपण किया।

महात्मा गांधी का आर्थिक चिंतन

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के आर्थिक विचार, भारतीय पृष्ठभूमि, मनीषा एवं विचार परंपरा के अनुरूप थे। गांधी जी ने भारत को आर्थिक दुर्दशा से निकालने के लिए बहूपयोगी व व्यावहारिक कार्य योजना रखी।

महात्मा गांधी, मनुष्य को केवल हाड़-माँस का भौतिक पुतला नहीं, वरन् एक दैवीय सार्वजनीन आध्यात्मिक पुट लिए हुए एक इकाई भी मानते थे। उसका ईश्वर से भी संबंध है। गांधी जी विकास का अर्थ मात्र भौतिक विकास से नहीं लेते थे, वरन् एक समग्र विकास की अवधारणा, सामाजिक सरोकारों से जुड़ी थी। गांधी जी का लक्ष्य मनुष्य का एकीकृत विकास था, जिसमें सभी के सहयोग से मनुष्य का सर्वांगीण विकास होगा, जो भौतिक एव आध्यात्मिक दोनों का संयोग होगा।

गांधी जी का स्पष्ट मत था कि सर्वप्रथम गरीबी का उन्मूलन होना चाहिए, तभी मनुष्य की क्षमताओं का अधिकतम उपयोग किया जा सकेगा। गांधी जी ने पाया कि भारत में गरीबी का मुख्य कारण अँग्रेजों द्वारा भारत का शोषण तथा लोगों को लाभदायक रोजगार की अनुपलब्धता थी। महात्मा गांधी ने 'हिंद स्वराज' में कहा है— 'मि. रमेश चन्द्र दत्त की पुस्तक 'हिंदुस्तान का आर्थिक इतिहास' जब मैंने पढ़ी, तब मेरी हालत ऐसी हो गई थी। उसका फिर से विचार करता हूँ, तो मेरा दिल भर आता है। मशीन की झपट लगने से ही, हिंदुस्तान दरिद्र हो गया है। मैनचेस्टर ने जो हमें नुकसान पहुँचाया है, उसकी तो कोई हद ही नहीं है। हिंदुस्तान से कारीगरी जो करीब-करीब खत्म हो गई, वह मैनचेस्टर का ही

काम है। मुझे तो लगता है कि हमें यह स्वीकार करना होगा कि अँग्रेजी राज्य को यहाँ टिकाए रखने वाले ये धनवान लोग ही हैं।”

महात्मा गांधी : हिंद स्वराज, पृष्ठ 70 , 71

महात्मा गांधी सभी को रोजगार प्रदान करने के पक्षधर थे। उन्होंने लिखा था “जबतक दुनिया में एक भी समर्थ स्त्री-पुरुष बिना काम अथवा भोजन के हैं तब तक हमें विश्राम करने अथवा भरपेट भोजन करने में लज्जा का अनुभव करना चाहिए ।”

यंग इंडिया 6.10.194, पृ. 314

साथ ही उन्होंने कहा “ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि इसलिए की कि वह अपनी रोटी के लिए श्रम करे, जो बिना श्रम किए खाते हैं वे चोर हैं। ”

यंग इंडिया 3.10.4 पृ. 425

महात्मा गांधी ने चरखे को महत्वपूर्ण समझा, उसे गरीबी दूर करने का एक साधन समझा। वे ग्राम-आधारित कुटीर उद्योग प्रणाली के पक्षधर थे। उन्हें छोटी इकाइयों द्वारा विकेंद्रीकृत उत्पादन पसंद था। वे एक श्रमनिष्ठ, समरस समाज की स्थापना चाहते थे। प्रत्येक नागरिक स्वावलंबी बने तथा शहरों की ओर भागने की प्रवृत्ति न रहे। प्रत्येक उत्पादक, उत्पादन के साधनों का स्वामी बन सके।

महात्मा गांधी बड़े पैमाने पर मशीनों के खिलाफ थे। उनका स्पष्ट मत था कि भारत जैसे श्रम-प्रधान देश में श्रम प्रधान तकनीकों का ज्यादा प्रयोग होना चाहिए। उनका विचार था कि मशीन, मनुष्य की सहायक हो, नियंता न बने।

महात्मा गांधी ने चरखे को महत्त्वपूर्ण समझा, उसे गरीबी दूर करने का एक साधन समझा। वे ग्राम-आधारित कुटीर उद्योग प्रणाली के पक्षधर थे। उन्हें छोटी इकाइयों द्वारा विकेंद्रीकृत उत्पादन पसंद था। गांधी जी एक श्रमनिष्ठ, समरस समाज की स्थापना चाहते थे। प्रत्येक नागरिक स्वावलंबी बने तथा शहरों की ओर भागने की प्रवृत्ति न रहे। प्रत्येक उत्पादक, उत्पादन के साधनों का स्वामी बन सके।

गांधी जी पूँजी प्रधान-तकनीक के विरोधी थे, क्योंकि इससे बेरोजगारी बढ़ती है। गाँधी जी मशीनों के विरोधी नहीं थे, परंतु मशीनवाद के विरोधी थे। वे अंधाधुंध मशीनीकरण के विरोधी थे। गांधी जी ने ‘ट्रस्टीशिप’ की अवधारणा को भारतीय परिप्रेक्ष्य में उपयुक्त माना। उनका यह सिद्धांत, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एवं कम्यूनिस्ट प्रणाली की अर्थव्यवस्था से अलग था। मानव कल्याण का भाव, इसके केंद्र में था। यहाँ मनुष्य, संपत्ति का ‘ट्रस्टी’ था, अत: आवश्यकतानुसार ही उपभोग करना श्रेयस्कर था। असीमित उपभोग एवं विलासितापूर्ण जीवन के विरुद्ध उनकी सोच थी। गांधी जी का अर्थशास्त्र मूलत: ‘तेन त्यक्तेन भुंजीथा’ को केंद्र में रखता था। गांधी जी, कृषि एवं उद्योग के संतुलन पर आधारित अर्थव्यवस्था के पक्षधर थे। कृषि प्रधान भूमिका में तथा लघु, कुटीर एवं ग्रामोद्योग उसके सहयोगी क्षेत्र के रूप में विकसित हो। गांधीजी, विकेंद्रीकरण के प्रबल समर्थक थे।

गांधी जी, किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, साधनों की पवित्रता के पक्षधर थे। आर्थिक जीवन में भी वे, नीति के पालन हेतु राष्ट्रहित व मानवहित के पक्षधर थे और हिंसा एवं अधर्म के खिलाफ थे। गांधी जी मानते थे कि व्यक्ति के लिए सत्य, सामाजिक संदर्भ में अहिंसा, जीवन निर्वाह के लिए श्रम अनिवार्य है। गांधी जी अर्थशास्त्र मानव कल्याण एवं पर्यावरण सुरक्षा के लिए नैतिक मूल्यों की महत्ता भलीभाँति समझते थे।

गांधी जी के आर्थिक चिंतन में, खादी, ग्रामोद्योग, चरखा, कुटीर उद्योग ट्रस्टीशिप, श्रम का महत्त्व, विकेंद्रीकरण, श्रम प्रधान तकनीक, मनुष्य व गाँवों का स्वावलंबन, जीवन के आर्थिक क्षेत्र में नैतिक मूल्यों का संरक्षण आदि विषय केंद्रीय स्थान पर हैं।

पं. दीनदयाल उपाध्याय

प्राचीन भारतीय आर्थिक चिंतन सरणि में राष्ट्रवादी चिंतक दीनदयाल उपाध्याय का योगदान अप्रतिम हैं। उन्होंने ‘अर्थायाम’ की अवधारणा की स्थापना की। दीनदयाल उपाध्याय जी के शब्दों में “समाज से अर्थ के प्रभाव एवं अभाव दोनों को मिटाकर उसकी समुचित व्यवस्था करने को ‘अर्थायाम’ कहा गया है। आवश्यक है कि समाज के मानदंड ऐसे बनाए जाएँ कि हर वस्तु पैसे से न खरीदी जा सके। देश के लिए लड़ने वाला सैनिक, अपने जीवन की बाजी, अर्थ की कामना से नहीं लगाता। अर्थ का लालच उसे देशद्रोह सिखा सकता है, देशभक्ति नहीं। ”— भारतीय अर्थनीति : विकास की एक दिशा (पृष्ठ 19)

समाज से अर्थ के प्रभाव एवं अभाव दोनों को मिटाकर उसकी समुचित व्यवस्था करने को ‘अर्थायाम’ कहा गया है। आवश्यक है कि समाज के मानदंड ऐसे बनाए जाएँ कि हर वस्तु पैसे से न खरीदी जा सके। देश के लिए लड़ने वाला सैनिक, अपने जीवन की बाजी, अर्थ की कामना से नहीं लगाता। अर्थ का लालच उसे देशद्रोह सिखा सकता है, देशभक्ति नहीं। –पं. दीनदयाल उपाध्याय

दीनदयाल उपाध्याय जी का आर्थिक दर्शन, राष्ट्रहित को केंद्र में रखकर विकसित हुआ था। वे समाज या व्यक्ति को खंड-खंड में बाँटकर विचार नहीं करते थे। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक सभी पहलुओं को अंगीकृत करके उनकी चिंतनधारा विकसित होती है। दीनदयाल उपाध्याय जी, राष्ट्रीय सुरक्षा, पूर्ण रोजगार, न्यूनतम उपभोग की गारंटी तथा विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था की अर्थनीति को प्राथमिकता में रखते हैं।

दीनदयाल उपाध्याय जी के अनुसार कृषि, उद्योग, वाणिज्य एवं समाज-सेवाएँ, राष्ट्र के आर्थिक जीवन की प्राथमिकताओं में आते हैं। उपर्युक्त चारों को संबद्ध रूप से विकसित किया जाना चाहिए। कृषि के क्षेत्र में ट्रैक्टर के स्थान पर हल का प्रयोग चाहते थे, उर्वरक के स्थान पर, देशी खाद का प्रयोग श्रेष्ठ मानते थे। बड़ी सिचाई परियोजनाओं के स्थान पर छोटी परियोजनाओं, तालाब व कुएँ आदि को महत्त्व देते थे।

उद्योग के क्षेत्र में वे छोटे-छोटे उद्योगों के पक्षधर थे। जो स्थानीय स्तर पर, कच्चे माल की उपलब्धता के आधार पर विकसित हों। उनकी दृष्टि में हमारा सामाजिक लक्ष्य राष्ट्र की सुरक्षा-सामर्थ्य को बढ़ाना, उपभोग एवं उत्पादक वस्तुओं की वृद्धि, प्रत्येक को काम, न्यूनतम जीवन स्तर की उपलब्धता, विषमताओं में कमी एवं विकेंद्रीकरण है।

दीनदयाल उपाध्याय जी, श्रम प्रधान तकनीक के पक्षधर थे। वे विदेशों से आयातित मशीनों के विरुद्ध थे। उनके विचार में देश में अपनी उपलब्ध प्रौद्योगिकी का विकास किया जाना चाहिए।

“ये सब ऐसे कारण है, जो हमारे लिए मशीन का स्वरूप निर्धारण करते हैं। वह निश्चित ही छोटी, सरल, हल्की और सस्ती होनी चाहिए। इस प्रकार की मशीनों का हमें विकास करना होगा।”

-भारतीय अर्थनीति:विकास की एक दिशा, पृ.82

मशीनों के संदर्भ में उनके विचार उल्लेखनीय हैं-

''वास्तव में मशीन न तो मनुष्य का शत्रु है और न मित्र। वह एक साधन है तथा उसकी उपादेयता समाज की अनेक शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया पर निर्भर है।''

भारतीय अर्थनीति : विकास की एक दिशा, पृ84

दीनदयाल जी, विदेशी पूँजी के समर्थन में नहीं थे, क्योंकि वह दीर्घकाल में राष्ट्र के हित में नहीं हो सकती। वे अंधाधुंध आयातों के भी पक्ष में नहीं थे। छोटे एवं बड़े उद्योगों का विवेचन करते समय वे लघु उद्योगों के पक्षधर थे। राष्ट्रीय सुरक्षा व आधारभूत उद्योगों को छोड़कर, वे लघु उद्योगों के पक्ष में थे।

> **आर्थिक प्रश्नों के समाधान हेतु पश्चिम की ओर देखने का एक प्रमुख कारण भौतिक जीवन की समस्याओं के प्रति उदासीन होना है। यह भ्रम दूषित प्रचार एवं आध्यात्मिकता का गलत अर्थ करने के परिणाम हैं। वास्तविकता तो यह है कि हमारे धर्म की व्याख्या भौतिकता का पूर्ण विचार करके चलती है। ''यतोऽभ्युदयानिः श्रेयससिद्धि स धर्मः'' अर्थात् जिससे ऐहिक और पारलौकिक उन्नति प्राप्त हो, वह धर्म है। जिसने इस लोक को छोड़ दिया, वह परलोक को नहीं बना सकेगा।**

यातायात के साधनों में वे मोटर तथा बैलगाड़ी के पक्ष में थे। जल परिवहन में नौकायान को वे उपयुक्त मानते थे।

दीनदयाल जी स्पष्टत: यह मानते थे कि भारतीय चिंतन परंपरा के प्रति दुराग्रहपूर्ण प्रचार किया गया कि हम भौतिक जीवन की उन्नति के विषय में उदासीन हैं। उनके शब्दों में-''आर्थिक प्रश्नों के समाधान हेतु पश्चिम की ओर देखने का एक प्रमुख कारण भौतिक जीवन की समस्याओं के प्रति उदासीन होना है। यह भ्रम दूषित प्रचार एवं आध्यात्मिकता का गलत अर्थ करने के परिणाम हैं। वास्तविकता तो यह है कि हमारे धर्म की व्याख्या भौतिकता का पूर्ण विचार करके चलती है। ''यतोऽभ्युदयानि: श्रेयससिद्धि स धर्म:'' अर्थात् जिससे ऐहिक और पारलौकिक उन्नति प्राप्त हो, वह धर्म है। जिसने इस लोक को छोड़ दिया, वह परलोक को नहीं बना सकेगा। भौतिकता और अध्यात्मिकता परस्पर विरोधी अथवा विलग भाव नहीं है। आध्यत्मिकता जीवन का एक दृष्टिकोण है, जिससे हम सभी प्रश्नों की ओर देखते हैं। अध्यात्मवाद यदि विश्व की सही व्याख्या कर सकता है तो कोई कारण नहीं कि उसके द्वारा हम विश्व की समस्याओं का समाधान पूर्वक हल न प्राप्त कर सकें।''-*भारतीय अर्थनीति : विकास की एक दिशा, पृ 18*

एकात्म मानववाद

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि दीनदयाल जी, प्राचीन भारतीय चिंतन परंपरा में रचे-बसे हैं, परंतु आधुनिक संदर्भों को उससे जोड़कर, आर्थिक समस्याओं के प्रति सही मार्ग बताते हैं। दीनदयाल जी का 'एकात्म मानववाद' जीवन के सभी पहलुओं पर विचार करने में समर्थ है। 'एकात्म मानववाद' का लक्ष्य सभी में समन्वय स्थापित करके मानव जगत् को शाश्वत सुख प्रदान करना है। दीनदयाल उपाध्याय जी मानते थे कि मानव तभी शाश्वत सुख प्राप्त करेगा जब शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा में समन्वय हो। दीनदयाल जी तथा महात्मा गांधी के आर्थिक विचारों में साम्य स्पष्टत: दिखता है।

प्रो. जे.के. मेहता

प्राचीन भारतीय आर्थिक चिंतन सरणि में भारतीय धर्मग्रंथों यथा— उपनिषदों, श्रीमद्भगवद्गीता आदि की हमारी चिंतन परंपरा के आधार पर प्रो. जे.के. मेहता का योगदान अप्रतिम है। उन्होंने आवश्यकतारहितता (Theory of Wantlessness) का प्रतिपादन किया, जिसके अनुसार, अधिकतम संतुष्टि के लिए, व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं को सरल एवं न्यूनतम स्तर पर लाना चाहिए। असीमित इच्छाएँ तथा भौतिक संपत्ति में वृद्धि के लिए पागलों जैसी भागदौड़, का परिणाम प्रौद्योगिकी के अधिकाधिक जटिल होने में होती है। जिससे केंद्रीकृत बड़े पैमाने की उत्पादन-प्रक्रिया तथा उसके परिणामस्वरूप, संसाधनों का अत्यधिक दोहन, गलाकाट प्रतियोगिता, राष्ट्रीय स्तर पर हिंसा का आचरण, पर्यावरण असंतुलन, प्रदूषण तथा जीवन के मानवीय दृष्टिकोण का पतन दृष्टिगोचर होते हैं। प्रो.जे.के. मेहता का कहना है —''हम स्वर्ण, संपदा, सत्ता , शक्ति और ऐसी अमोघ शक्ति पाने की होड़ देखते हैं जिससे सब कुछ हथिया सकें। व्यक्ति रोजगार और अच्छा रोजगार और बेहतर रोजगार पाने की कोशिश में लगा रहता है... और अधिक संपदा पाने के लिए आश्चर्यजनक रूप से बलिदान करता है, यह जाने-समझे बिना की ऐसे बलिदान संपदा का आनंद लेने की उसकी क्षमता को सीमित कर देते हैं।'' – (Prof. J.K. Mehta : "Rhyme and Truth in Economiscs, Page 8)

> **प्राचीन भारतीय आर्थिक चिंतन में एक तत्त्व स्थायी है, वह है साध्य-साधन-विवेक। अनैतिक, शोषण द्वारा विकास न तो व्यष्टि स्तर पर उचित है, न ही समाष्टि स्तर पर। इस परंपरा में वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण, मनुस्मृति, शुक्रनीति, विदुरनीति, आचार्य चाणक्य का 'अर्थशास्त्र', महात्मा गांधी, दीनदयाल उपाध्याय, प्रो. जे. के. मेहता प्रभृति की चिंतनधारा आज के संदर्भ में भी उपयोगी है।।**

उपर्युक्त से स्पष्ट होता है कि प्रो. जे. के. मेहता की अर्थचिंतन की दृष्टि, भारतीय मनीषियों की जीवन-दृष्टि से मेल खाती है। प्रो. मेहता आर्थिक विचारों की दृष्टि से महात्मा गांधी एवं दीनदयाल उपाध्याय के निकट हैं। प्रो. मेहता ने मनुष्य को टुकड़ों में बाँट कर नहीं देखा। उनका विचार था कि अर्थशास्त्र एवं नीतिशास्त्र एक दूसरे से निकटत: जुड़े हुए हैं। उन्होंने मानव को आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक रूप से खंड-खंड करके विचार करने का विरोध किया तथा एक समग्र दृष्टि का पक्ष लिया।

प्राचीन भारतीय आर्थिक चिंतन में एक तत्त्व स्थायी है, वह है 'साध्य-साधन-विवेक। अनैतिक, शोषण द्वारा विकास न तो व्यष्टि (Micro) स्तर पर उचित है, न ही समाष्टि (Macro) स्तर पर। इस परंपरा में वेद, उपनिषद्, महाभारत रामायण, मनुस्मृति, शुक्रनीति, विदुरनीति, आचार्य चाणक्य का 'अर्थशास्त्र', महात्मागांधी, दीनदयाल उपाध्याय, प्रो. जे. के. मेहता प्रभृति की राष्ट्रवादी चिंतनधारा आज के संदर्भ में भी उपयोगी है। यह पुरातनपंथ नहीं है, वरन् हमारे बहुमूल्य जीवनमूल्य हैं, जो हमारी विशिष्टता है, एवं यही जीवन-पद्धति श्रेष्ठ है।

(लेखक इलाहबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज के अर्थशास्त्र विभाग के पूर्व प्राध्यापक है।)

अयोध्या में श्रीराम लला की जन्मस्थली पर बने धरोहर समान मंदिर को गिराकर बनाई गई बाबरी मस्जिद विवाद वर्षों से लंबित है। भारत में आक्रांताओं द्वारा मंदिर गिरा कर उन पर मस्जिद बनाने का यह अकेला मामला नहीं है। दुनिया भर में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ आक्रमणकारियों ने विजयोल्लास में वहाँ के धर्मस्थलों को गिराकर अपने पूजास्थलों का निर्माण किया। दुनिया में ऐसे भी अनेक उदाहरण हैं कि किस प्रकार वहाँ बाद में उन स्थानों पर पुनर्निर्माण कर अपने गौरव की पुनर्स्थापना की गयी। भारत में भी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद केंद्रीय मंत्रिमंडल के निर्णय के आधार पर श्री सोमनाथ मंदिर का पुनर्निर्माण किया गया। लेकिन अयोध्या मामले में कथित धर्मनिरपेक्षतावादी अतीत की उपेक्षा कर इस विवाद को बनाये रखना चाहते हैं। समाज में सद्भाव बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि वैश्विक उदाहरणों के परिप्रेक्ष्य में, जनभावनाओं का आदर करते हुए इस मामले को यथाशीघ्र सुलझाया जाए।

हरिकृष्ण निगम

अयोध्या : अनिर्णय और अस्थिरता की स्थिति बनाने का षड्यंत्र!

अयोध्या में रामलला की जन्मस्थली पर बने धरोहर समान मंदिर को गिरा कर बनाई गई बाबरी मस्जिद विषयक विवाद हल होने का नाम नहीं लेता। कथित धर्मनिरपेक्षता की आयातित अवधारणा के जोश में हम अपने अतीत को अनदेखा न करें, क्योंकि अतीत के गर्भ से ही वर्तमान जन्म लेता है और यही वर्तमान हमारे भविष्य को दिशा देता है। हमारे अँग्रेजी प्रेस का एक बड़ा वर्ग हममें अपार हीन-भावना एवं ग्लानि की अनुभूति कराता रहा है जैसे मंदिर निर्माण की बात उठाना एक अपराध जैसा हो और विवादित ढाँचे का ढहना एक जघन्य कृत्य। दशकों से हर वर्ष 6 दिसंबर आते ही हमारे धर्मनिरपेक्षता के समर्पित राजनीतिबाज इस तरह से इसे एक 'काला दिन' की तरह याद करते थे, जैसे वह आत्मकुंठा या मानसिक यंत्रणा का दिन हो। वे इस अनियंत्रित और अनिवार्य घटनाक्रम को भूतकाल के कुहासे में खोने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि बहुसंख्यक समाज में लगातार दुष्प्रचार के द्वारा अपराधबोध भरने का दूसरा और कोई माध्यम या उपकरण उन्हें कहाँ मिलता?

क्या पिछले कई दशकों में जब सऊदी अरब में मदरसे और कुछ मस्जिदें या जब पाकिस्तान या चीन, इजरायल या म्यांमार में अनेक मस्जिदें प्रशासन द्वारा तोड़ी गई; तब धर्मनिरपेक्षता के ठेकेदारों ने वैसा हाहाकार तो दूर, आलोचना भरे समाचार भी नहीं छापे; जबकि विश्व मीडिया में यह प्रकाशित होता

रहता था। कहीं सड़कों के विकास के लिए या बगीचों जैसी नागरिक सुविधा मुहैया कराने के लिए या कभी सिर्फ प्रशासकीय सुविधा के लिए ऐसा किया गया। पोलैंड, कोसोवो, चीन, पूर्वी तिमोर व इजरायल में ऐसा अनेक बार हुआ। पूर्व सोवियत संघ ने अपने विघटन के पहले तक अपने एशियाई मुस्लिम गणतंत्रों में कितनी मस्जिदों को बंद करा दिया था। यह आज भी एक कड़वा सच है, पर भारत के मीडिया ने कभी हाहाकारी सुर्खियाँ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत नहीं कीं। अजरबेजान और आर्मीनिया के धार्मिक प्रकृति के संघर्षों से लोग पहले भी परिचित थे और अब स्वतंत्र होने के बाद की हिंसा भी सर्वविदित है। नाईजीरिया की जातीय हिंसा में चर्चों या मस्जिदों का प्रतिद्वंदी धार्मिक समूहों द्वारा, ध्वंस तो इस देश में कभी समाचार ही नहीं बना। सन् 1992 में ही अयोध्या के घटनाक्रम की प्रतिक्रिया-स्वरूप अनेक हिंदू मंदिरों का भी घ्वंस हुआ था, पर बांग्लादेश के प्राचीन ढाकेश्वरी मंदिर की बर्बादी व आगजनी का समाचार हमारे देश में काफी दिनों तक छापना भी उचित नहीं समझा गया था। ये उदाहरण ऐसे किसी दुष्कृत्य को तर्कसम्मत सिद्ध करने के लिए नहीं, बल्कि हमारी अपनी सुविधावादी संवेदनशीलता या हिंदू आस्था के विरुद्ध अँग्रेजी मीडिया के एक बड़े वर्ग के विद्वेष के हैं। इसे नकारा नहीं जा सकता है।

> **अयोध्या में उस स्थान पर जिसे विजित जनसंख्या पवित्र मानती है किसी मस्जिद का निर्माण ही एक अपमान का द्योतक था। भारत में जो हो रहा है वह एक नई, ऐतिहासिक जागृति है..आज मुझे यह लगता है कि भारतीय अपने इतिहास के लिए सजग और संवेदनशील हैं...भारत में आज जो हो रहा है वह एक विराट् सृजनशील प्रक्रिया - 'माइटी क्रिएटिव प्रोसेस' है।''**
>
> **- *वी.एस.नयपाल***

लंदन में रहने वाले 101 वर्षीय अंतरराष्ट्रीय ख्याति के लेखक स्वर्गीय नीरद चौधरी ने इस घटना के बारे में दो टूक बातें की थीं, जो बहुत से लोग नहीं सह पाते हैं। इस विवादित ढाँचे के गिरने पर मुसलमानों को शिकायत करने का रंचमात्र भी अधिकार नहीं है। ''ई. सन् 1000 से हर हिंदू मंदिर जो कठियावाड़ से बिहार तक या हिमालय से विंध्य पर्वतों के बीच था, नष्ट कर दिया गया था। आत्मसम्मान से भरा कोई राष्ट्र इसे माफ नहीं कर सकता।'' इसी तरह अँग्रेजी के दूसरे विश्वविख्यात लेखक वी.एस. नयपाल ने लिखा – ''अयोध्या में उस स्थान पर जिसे विजित जनसंख्या पवित्र मानती है किसी मस्जिद का निर्माण ही एक अपमान का द्योतक था।'' 6 दिसंबर के घटनाक्रम के लिए उन्होंने कहा – '' भारत में जो हो रहा है वह एक नई, ऐतिहासिक जागृति है..आज मुझे यह लगता है कि भारतीय अपने इतिहास के लिए सजग और संवेदनशील हैं...भारत में आज जो हो रहा है वह एक विराट् सृजनशील प्रक्रिया – 'माइटी क्रिएटिव प्रोसेस' है।''

लगभग एक दशक पहले बहुसंख्यक समाज ने देश को याद दिलाया था कि यदि प्रतीक रूप से भी ऐतिहासिक गलतियाँ सुधार ली जाएँ, तो हिंदू-मुस्लिम संबंध सदा-सदा के लिए सुधर सकते हैं। पर इस संबंध में प्रतिक्रिया आक्रामक और विषाक्त थी।

सदियों से विदेशी आक्रमण और उनके धर्मांध शासन के कारण हजारों मंदिर नष्ट होते रहे अथवा मस्जिदों में परिवर्तित होते रहे। वे साक्ष्य अनेक घ्वंसावशेषों और खंडित की हुई मूर्तियों और स्वयं सल्तनत और मुगलकालीन इतिहासकारों और उनके दरबार के वृत्तांतों और पुरालेखागारों में हैं। उदाहरण के लिए पूरा का पूरा परिसर जो आज कुतुब मीनार के आस-पास है गिराए गए 50 से अधिक हिंदू-जैन मंदिरों के पत्थरों से बना है। पी. एन. ओक और अनेक इतिहासकारों का आज तथाकथित प्रबुद्ध इतिहासकार मजाक उड़ा सकते हैं जो लिखते हैं कि आज देश के सबसे बड़े मुगल शासन के कुछ प्रसिद्ध और विशाल स्मारक हिंदू भवनों और कीर्तिस्तंभों के परिवर्तित और परिवर्धित रूप हैं। पर यह बात भूलना नहीं चाहिए कि कुछ अँग्रेज और फ्रेंच स्थापत्य कला के विशेषज्ञों ने भी यह बात दोहराई है। भारतीय जनता के मानस पर, विशेषकर जिसे वोटों की राजनीति की बाध्यता से कोई सरोकार नहीं है, उसके गहरे घाव कभी भी भरे नहीं जा सकते हैं।

कुतुब मीनार परिसर में आक्रमणकारियों द्वारा खंडित किए गये मंदिर का एक स्तंभ।

स्वतंत्रता के तुरंत बाद, नेहरू जी के वर्चस्व के बाद भी, भारत सरकार ने इस तथ्य को लगभग स्वीकार करते हुए कम से कम एक जगह बहुत महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया था। सन् 1947 में नेहरू जी के मंत्रिमंडल ने महसूद गजनी द्वारा ध्वस्त सोमनाथ के मंदिर के पुनर्निमाण का निर्णय लिया था। राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और सरदार वल्लभ भाई पटेल, जिनकी राष्ट्रभक्ति पर आज भी किसी को उँगली उठाने का साहस नहीं है, इस कार्य योजना से जुड़े थे। उस समय दुर्भाग्य से अयोध्या का राम जन्मस्थान मंदिर, मथुरा की कृष्ण जन्मभूमि और काशी के

कुतुब मीनार परिसर में स्थित लोह स्तंभ

विश्वनाथ मंदिर के पुनरुद्धार की बात रह गई थी।

बदलते समय में कुछ लोगों का यह दुस्साहस हो गया कि वे कहने लगे की अयोध्या में उस जगह पर राम मंदिर था ही नहीं। मजे की बात है कि इस पर बाल की खाल निकालने वाले, दूसरे धर्म के नीवँ पर, उनकी दंतकथाओं तक पर भी आलोचनात्मक दृष्टि डालने से भी भय खाते हैं। यह प्रश्न न ही केवल इतिहास या पुरातत्त्व से और समग्र समाज के मनोविज्ञान का है, अपनी भूमि में पनपी आस्थाओं की रक्षा का है। किसी भी बौद्धिक बयानबाजी में, खेमों में बँटे, तर्कों का कोई मूल्य नहीं हैं। तर्क से इस तरह के प्रश्नों का हल बेवकूफी है; विश्व के दूसरे धर्मों और विश्वासों तथा उनकी सम्मोहक दंतकथाओं और परंपराओं के प्रति आदर से हमने यह सीखा है। कम से कम सामान्य हिंदू तर्कवादी और धर्मांध नहीं है। दूसरे धर्मों ने अपने विश्वासों पर, चाहे वे कितने ही अव्यावहारिक या पोंगापंथी के लक्षण लिए हुए हों, किसी को उँगली उठाने की स्वतंत्रता नहीं दी है; उनकी ऐसी बातों पर आक्रमक प्रतिक्रिया भी सर्वविदित हैं। फिर बहुसंख्यक समाज को अपने ही देश में अपराध-बोध कराने वालों को किस संवैधानिक प्रावधान के अंदर मजाक उड़ाने, अपशब्द लिखने की छूट दी गई है?

सिर्फ आत्मद्रोह, आत्मकुंठा के शिकार और अपने ही मुँह पर थूकने वाले आज देश में बहुसंख्यक समाज में से ही कुछ व्यक्ति आत्महंता के रूप में विद्यमान हैं। धर्मनिरपेक्षता की जय-जयकार की आड़ में वे एक आधुनिक 'धर्मांध' का रूप ग्रहण कर रहे हैं। उनके तर्क भी शास्त्रोक्त हैं ; वे शास्त्र जो अधिक से अधिक साम्यवादी देश भी इतिहास की कूड़ेदानी में फेंक चुके हैं। जो तुष्टीकरण और आत्मप्रवंचना से भरे हैं। आज के वैचारिक संघर्ष में नम्र बनना अप्रासांगिक हैं। मूलभूत प्रश्नों पर समझौतावादी दृष्टि, उन विरोध करने वालों को, जिन्हें राजनीतिक नैतिकता से कुछ लेना-देना नहीं हैं, सिवाय अल्पकालिक स्वार्थ के, देश के दूरगामी हितों के विरुद्ध है। ऐसी दुर्भावना से भरे लोगों के समक्ष सहिष्णुता दिखाना पूरी तरह से अर्थहीन है। तर्क के जो हथियार वे प्रयुक्त करते हैं उन्हीं शब्दावलियों के अस्त्रों से आप उन्हें काट सकते हैं। सिर्फ प्रतिरक्षा की बाध्यता से नहीं, आक्रामक रुख से ही वैचारिक युद्ध जीते जा सकते हैं। यह भी हमारे देशों में लगातार बदलते राजनीतिक समीकरणों से साफ है कि धर्मनिरपेक्षता के नाम पर विरोध करनेवालों का किसी नैतिकता से लेना-देना नहीं रह गया है। पर क्या ऐसे दुर्भावना से भरे बुद्धिजीवियों के समक्ष झुकना या उनका समुचित उत्तर न देना घातक सिद्ध हो सकता है? तर्क के जो हथियार वे प्रयुक्त कर रहे हैं, उसी स्तर के अस्त्रों का प्रयोग आज अपेक्षित है। कभी जातिवाद के नाम पर, कभी 'साम्प्रदायिकता' शब्द की आड़ में, कभी समस्त व्यवस्था को 'मनुवादी' कहकर जो लोग जातीयता और वर्ग संघर्ष को बढ़ावा देने को ही एक मोहरा मानते हैं, उनको उन्हीं के बनाए औचित्य के मानदंडों से विश्लेषण के द्वारा पछाड़ा जा सकता है। यह किसी को स्वेच्छा से देश के बचाव के लिए करना ही होगा। जब हिंदुत्व के अनेक पक्षों पर कई कोणों से प्रतिदिन गंदे प्रहार होते हैं, जब उसका करोड़ों धर्मावलंबियों में से भी कोई संगठित रूप से उसी मीडिया में प्रत्युत्तर देने का कष्ट नहीं करता है। मजे की बात यह है कि आलोचना भी उन्हीं आधुनिक, शिक्षित मीडिया पर पकड़ रखनेवाले धर्मद्रोहियों द्वारा होती है जिनके नाम हिंदू हैं। प्रेस की स्वतंत्रता या आधुनिक दृष्टि का अर्थ यह नहीं है कि बहुसंख्यकों के धर्म के लिए अपशब्द कहे जाएँ। ऐसा लगातार हो रहा है और कभी-कभी लगता है हम भारत में नहीं किसी दूसरे देश में संत्रस्त या प्रताड़ित अल्पसंख्यकों की तरह रह रहे हैं। बहुसंख्यकों ने शालीनता एवं सहिष्णुता के नाम पर बहुत कुछ खोया है।

एक समय स्पेन ने विधर्मियों को बेदखल कर अपने अधिकाँश चर्च वापस ले लिए थे। पर आज देश का बहुसंख्यक समाज क्षमाप्रार्थी की मुद्रा में हजारों मंदिरों के बदले सिर्फ अपने आराध्य राम के जन्मस्थान की माँग कर रहा है। हमारा इतिहास आज पुंसल धर्मनिरपेक्ष नगाड़ेबाज बुद्धिजीवियों की जागीर नहीं हैं। यदि सत्य असहनीय है तब वह मुट्ठी भर तथाकथित प्रबुद्ध अँग्रेजी लेखकों की समस्या है जो हिंदू समाज की नकारात्मक आत्मछवि का प्रचार कर रहे हैं। हिंदू विरोध के झंडे उठाने वालों को मनोवैज्ञानिक संतोष तो मिल सकता है पर अपनी वैचारिक दासता से वे अधिक दिन तक देश की अस्मिता पर झूठ-मूठ की नैतिकता का प्रहार नहीं कर सकते हैं। नेहरूवादी एवं वामपंथी इतिहासकारों ने इतिहास के आक्रमक और दुर्दांत विजेताओं को साम्प्रदायिक शांति के नाम पर समाज के संरक्षक के रूप में भी चित्रित करने की कोशिश की है। वे यह भूल जाते हैं कि वह धर्म जो ऐसे विश्वास की नीवँ डालता है कि आप एक समय विशेष के पहले के अतीत से नाता तोड़ लें और धर्मांतरण के बाद अपने अनुयाइयों को सर्वधर्म समभाव के बदले एक पंथ की सर्वोच्चता सिद्ध करते-करते धार्मिक अतिरेक की

स्वतंत्रता के तत्कालबाद केंद्रीय मंत्रिमंडल के निर्णय से हुआ सोमनाथ मंदिर का पुनर्निर्माण।

> **प्रेस की स्वतंत्रता या आधुनिक दृष्टि का अर्थ यह नहीं है कि बहुसंख्यकों के धर्म के लिए अपशब्द कहे जाएँ। ऐसा लगातार हो रहा है और कभी-कभी लगता है हम भारत में नहीं किसी दूसरे देश में संत्रस्त या प्रताड़ित अल्पसंख्यकों की तरह रह रहे हैं। बहुसंख्यकों ने शालीनता एवं सहिष्णुता के नाम पर बहुत कुछ खोया है।**

भी वकालत करें, सहिष्णुता का बीज नहीं बो सकता है।

इजरायल के ज्वलंत राष्ट्रवाद और देश की सुरक्षा के मुद्दों ने जनतंत्र होते हुए भी हमारे देश की तरह कोई भ्रम नहीं पाला है। उसने धर्मनिरपेक्षता की झूठी अंतरराष्ट्रीय वाह-वाही की कभी तलाश नहीं की। यदि अमेरिका सहित दूसरे देश भी उसे आदर देते हैं तो वह है उसके दृढ़ मनोबल और सैन्यशक्ति के कारण।

कुछ वर्षों पूर्व इजरायली गृहमंत्रालय ने नजारेय के निकट एक चर्च से लगी मस्जिद के बनने पर प्रतिबंध लगा दिया था क्योंकि इसके बनने के साथ-साथ ईसाइयों व मुस्लिम जनसंख्या में तनाव बढ़ता जा रहा था। नजारेय ईसामसीह से जुड़ा विश्व प्रसिद्ध धार्मिक स्थल है, पर वहाँ की स्थानीय जनसंख्या में मुस्लिम अधिक हैं। यह मस्जिद उस प्रसिद्ध 'बेसिल्का ऑफ एननसिएशन' के नजदीक बनाई जा रही थी जो देवदूत ग्रेबियल के संदर्भ के कारण अत्यंत पवित्र है जिसने ईसामसीह के जन्म की भविष्यवाणी की थी। इस अधबनी मस्जिद की नीवँ को प्रशासन ने बुलडोजरों से ध्वस्त कर दिया।

> **इजरायल के ज्वलंत राष्ट्रवाद और देश की सुरक्षा के मुद्दों ने जनतंत्र होते हुए भी हमारे देश की तरह कोई भ्रम नहीं पाला है। उसने धर्मनिरपेक्षता की झूठी अंतरराष्ट्रीय वाह-वाही की कभी तलाश नहीं की। यदि अमेरिका सहित दूसरे देश भी उसे आदर देते हैं तो वह है उसके दृढ़ मनोबल और सैन्यशक्ति के कारण।**

नजारेय आज के उत्तरी इजरायल के निचले गेलिली क्षेत्र का ऐतिहासिक शहर है। ईसाई गोस्पेल के अनुसार मेरी और जोसेफ का घर यहीं था और ईसामसीह का बचपन भी यहीं बीता था। दुनिया भर के ईसाइयों के धार्मिक पर्यटन स्थलों में यह अत्यंत पवित्र माना जाता है। हाल में सरकार द्वारा नजदीक की मस्जिद नीवँ सहित तब खोद डाली गई, जब सारा शहर सो रहा था और उस स्थल पर सशस्त्र पुलिस ने नाकाबंदी कर दी थी।

धार्मिक आस्थाओं को सत्यापित करने के लिए न तो न्यायालय चाहिए, न ही इतिहासकार या पुरातत्वविद्। सिर्फ भारत में ही हर पत्रकार, विशेषज्ञ या इतिहासकार या पुरातत्वविद् होने का दावा करता है। कोई कहता यह अयोध्या ही कोई दूसरी है; कोई इसे बौद्ध धर्म से जुड़ी बताता है; कोई कहता है कि राम जन्मस्थल भी विवादित है और कोई राम के अस्तित्व पर ही शंका करता है। राजनीति ने हमारी धार्मिक मान्यताओं व विश्वासों का वीभत्स विद्रूपीकरण कर दिया है। दूसरी ओर विश्व के तीनों बड़े सेमेटिक धर्म-यहूदी, ईसाई व इस्लाम-यरूशलेम, बेतलहम, नजारेय और छोटे-बड़े नगरों के चप्पे-चप्पे पर अपने धर्म के भग्नावशेषों पर प्रतिस्पर्धी दावे करते हैं, पर संघर्षों के बावजूद उनके धार्मिक दावों पर आज तक, किसी ने प्रश्नचिह्न नहीं लगाए। विश्व के प्राचीनतम हिंदू धर्म के विश्वासों से जुड़े पुराने अवशेषों पर किसी का संशय प्रकट करना उनकी वैचारिक दरिद्रता की निशानी है। विशेषकर बाबर जैसे आक्राँता के नाम से जुड़ी मस्जिद की तुलना में करोड़ों हिंदुओं के आराध्य राम की जन्मस्थली मानी जाने वाली अयोध्या का स्थान सर्वोपरि है। इस सत्य को कोई न्यायालय, कोई बिचौलिया या कोई राजनीतिक दल झुठला नहीं सकता।

> **राजनीति ने हमारी धार्मिक मान्यताओं व विश्वासों का वीभत्स विद्रूपीकरण कर दिया है। दूसरी ओर विश्व के तीनों बड़े सेमेटिक धर्म-यहूदी, ईसाई व इस्लाम-यरूशलेम, बेतलहम, नजारेय और छोटे-बड़े नगरों के चप्पे-चप्पे पर अपने धर्म के भग्नावशेषों पर प्रतिस्पर्धी दावे करते हैं, पर संघर्षों के बावजूद उनके धार्मिक दावों पर आज तक, किसी ने प्रश्नचिह्न नहीं लगाए। विश्व के प्राचीनतम हिदू धर्म के विश्वासों से जुड़े पुराने अवशेषों पर किसी का संशय प्रकट करना उनकी वैचारिक दरिद्रता की निशानी है।**

चाहे वह 'डोम आन द रॉक' हो, जहाँ से कहा जाता है कि पैगम्बर साहब घोड़े पर बैठकर स्वर्ग गए थे। दूसरी किंवदन्ती यह है कि 3000 वर्ष पहले डेविड ने यरूशलम को राजधानी बनाया जिसके पुत्र सोलोमन ने एक मंदिर बनाया था, जिसे 586 ई. पू. में बेबीलन के राजा नेबूकेडनेजर ने नष्ट कर दिया। यह 50 वर्ष बाद फिर बना और फिर नष्ट हुआ। ईस्वी 634 में मुसलमानों का यरूशलम पर आक्रमण हुआ और ई. 691 में अब्दुल मलिक ने 'डोम ऑन द रॉक' का निर्माण किया। इजरायल की इस पर नजर है क्योंकि वे मानते हैं कि यह उनके प्राचीन मंदिरों की प्राचीरों पर खड़ा है। आज यरूशलेम में प्रतिशोध और दावों की श्रृंखला में ईसाई, मुस्लिम और यहूदी सब शामिल हैं। सारी दुनिया में मात्र पाँच करोड़ यहूदी हैं पर वे अपने विश्वासों के लिए लड़ना जानते हैं। हमारे देश के 90 करोड़ हिंदू इतने विभाजित हैं कि वे एक रामजन्मभूमि पर वर्चस्व बनाने के लिए सिर्फ राजनीतिक विषवमन में लगे हैं। जबकि इजरायल अपनी जमीन का सदियों से हर इंच अपने इतिहास और धर्म से जुड़ा मानकर जातीय व धार्मिक पहचान के संघर्ष में दशकों से लगा है, हम भारतीय सत्ता की राजनीति के बदले समग्र यादों के अवशेषों को स्वेच्छा से मिटाने को तैयार हैं ।

जहाँ तक नजारेय की मस्जिद की नीवँ तोड़ने का प्रकरण है जो हाल में हुआ उसे यहूदियों द्वारा मुस्लिमों के विरुद्ध ईसाइयों से मिलकर, प्रतिशोध लेने की साजिश भी कहा जा रहा है। मार्च 2003 में ही एक इजरायली न्यायालय ने इस मस्जिद को, जिसे शिहाव अलदीन मस्जिद कहा गया था, तोड़ने के आदेश दिए थे। यद्यपि पहले इजरायली शासन ने इसे अनौपचारिक स्वीकृति दे दी थी पर पोप पाल के साथ दूसरे अनेक देशों के ईसाइयों के कारण यह अनुमति वापस ले ली गई थी। यहाँ गैर-मुस्लिमों को यद्यपि इजरायली पुलिस घूमने की छूट देती थी। पिछले 33 महीनों से यहाँ किसी मुस्लिम को भी जाने की इजाजत नहीं थी और अब इजरायल ने बुलडोजरों से उसे ध्वस्त भी कर दिया।

यहाँ अरसे से राममंदिर के निर्माण का प्रश्न अधर में लटका है और अयोध्या राजनेताओं के कारण आज भी विवादों का केंद्र बनी हुई हैं। क्या हम इस तरह के प्रश्नों को, देश के हित के लिए सुलझा नहीं सकते हैं और प्रस्तावित हलों के अनुपालन के लिए इजरायल से शिक्षा नहीं ग्रहण कर सकते? यह मात्र एक विचार और उदाहरण है, किसी विकल्प को ढूँढने के लिए और साथ ही देश की अस्मिता व मनोबल को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए ।

(लेखक चिंतक व प्रसिद्ध स्तंभकार हैं।)

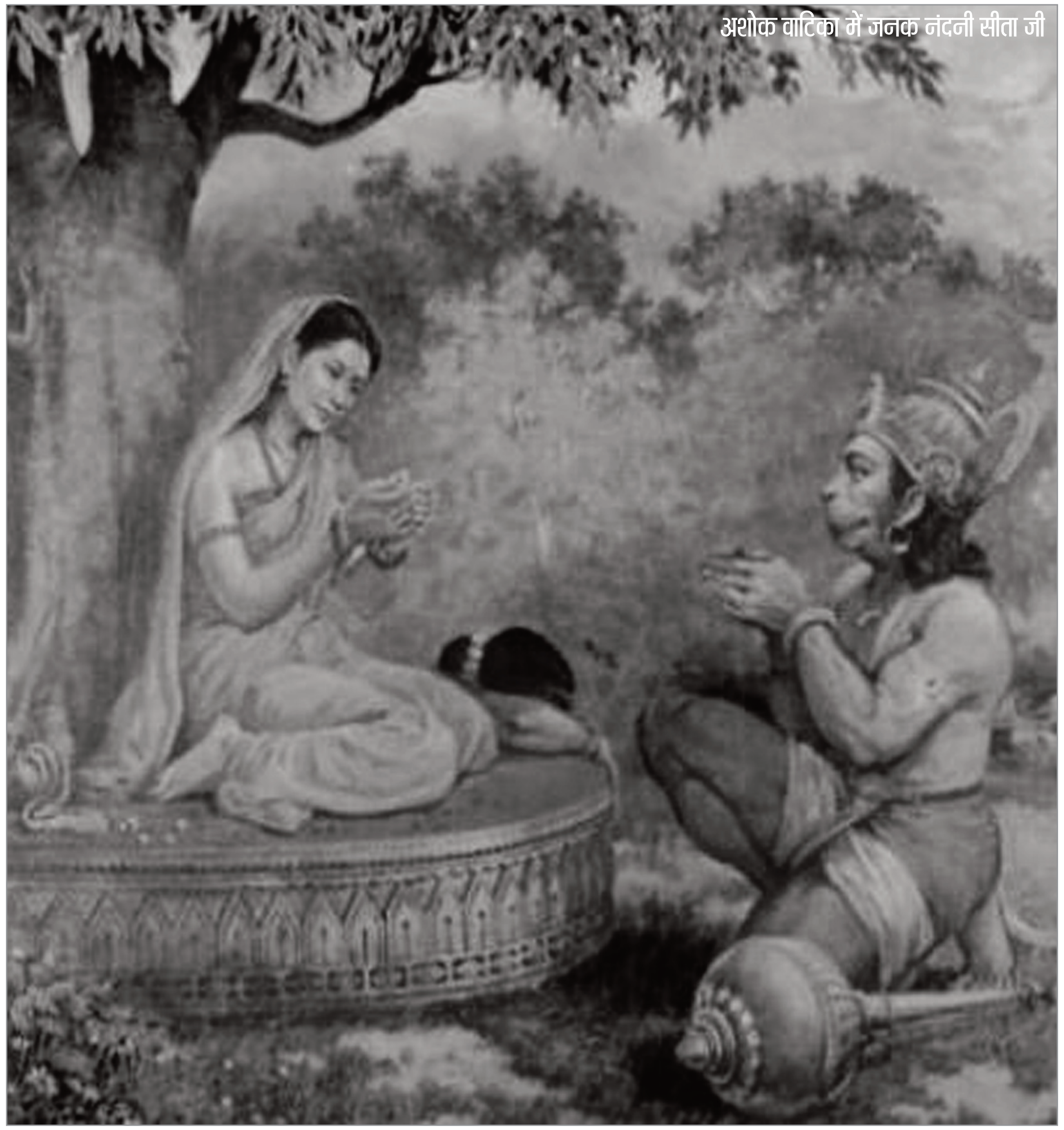

अशोक वाटिका में जनक नंदनी सीता जी

> मर्यादा पुरुषोत्तम राम भारतीय सांस्कृतिक चेतना के अग्रदूत हैं। इसी कारण वैदिक वाङ्मय से लेकर आधुनिक काल तक के कवियों व साहित्यकारों का मन राम कथा लेखन में रमता है। इस लेखन में प्रसंगवश अनेक नारी चरित्रों का उल्लेख स्वाभाविक है। रामकथा काव्य में वर्णित नारी चरित्र आदर्शों की स्थापना, विकृतियों का समाहार, नारी महिमा की पुनर्स्थापना, कर्तव्य बोध और नारी उत्पीड़न के बीच व्यापक संदेश देते हैं। प्रस्तुत है इस विषय पर श्री शंकर लाल माहेश्वरी का यह लेख –

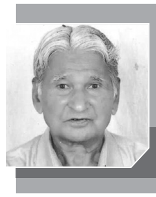

शंकर लाल माहेश्वरी

प्रेरक हैं राम काव्य में नारी चरित्र

भारतीय वाङ्मय में रामकाव्य का विशेष महत्त्व है। इसका सूत्रपात वेदों से माना जाता है। उत्तरकालीन उपनिषदों में भी रामकाव्य की झलक मिलती है। भारत की विभिन्न भाषाओं तथा विदेशों में भी रामकाव्य की रचना हुई है। भारतीय भाषाओं के प्रमुख काव्यकारों में आदि कवि वाल्मीकि, महर्षि व्यास, भवभूति, कालिदास, चंदबरदाई, गोस्वामी तुलसीदास, मोरोपंत, एकनाथ, केशवदास सेनापति, पद्माकर थे तथा आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त, हरिशंकर प्रसाद 'हरिऔध' आदि कवि मनीषियों ने रामकाव्य के रूप में 'साकेत', 'पंचवटी', 'वैदेही वनवास' आदि की रचना की है। रामकाव्य में जिन नारी पात्रों का विवरण प्रस्तुत हुआ है उनका योगदान किसी न किसी घटना से संबद्ध होकर रामकाव्य की विशेषता को उजागर करता है।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम का चरित्र भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों का जीवंत प्रतिबिंब है। रामकथा के समस्त पात्र महिमा मंडित है। निर्गुण व सगुण भक्ति परंपरा के साधकों ने उनकी गुण गाथा का बखान किया है।

संत तुलसीदास ने भी श्री राम नाम को कल्पतरु के समान बताते हुए उनके रूप, लीलाओं और आदर्शों का वर्णन किया है–

''नामु राम को कल्पतरु, कवि कल्याण निवासु''

साकेतकार मैथिलीशरण गुप्त ने राम के चरित्र का चित्रण करते हुए कहा है कि–

''राम तुम्हारा वृतस्वयं काव्य है,
कोई कवि बन जाए सहज सम्भाव्य है।''

'वैदेही वनवास' में कवि हरिऔध ने जानकी की व्यथा

का वर्णन प्रस्तुत किया है। रामकथा के समस्त पात्र भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं को महिमा मंडित करने वाले है। रामकाव्य ग्रंथों में नारी पात्रों की विशिष्ट भूमिका प्रस्तुत की गई है और सीता, कौशल्या, उर्मिला, मांडवी, मंदोदरी, श्रुतकीर्ति, त्रिजटा, शबरी आदि का उदात्त रूप प्रस्तुत किया गया है।

जनक नंदिनी सीता

'पंचवटी' में गुप्त जी ने सीता के आदर्श स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है –

''नारी के जिस भव्य भाव का,
स्वाभिमान भाषी हूँ मैं,
उसे नरों में भी पाने का उत्सुक
अभिलाषी हूँ मैं।।

रामकाव्य परंपरा में भारतीय नारी भावना का सर्वोत्कृष्ट दर्शन सीता के पावन चरित्र में होता है। वह अत्यधिक विनयशील, सहिष्णु, संयमी, पतिव्रता, लज्जाशील, मर्यादित एवं कर्तव्यनिष्ठ नारी के रूप में प्रस्तुत हुई है। पति-पत्नी को भारतीय संस्कृति में एक दूसरे का पूरक माना गया है। जनकनंदिनी सती शिरोमणि सीता का आदर्श आर्य संस्कृति की आत्मा है।

रामकाव्य परंपरा में भारतीय नारी भावना का सर्वोत्कृष्ट दर्शन सीता के पावन चरित्र में होता है। वह अत्यधिक विनयशील, सहिष्णु, संयमी, पतिव्रता, लज्जाशील, मर्यादित एवं कर्तव्यनिष्ठ नारी के रूप में प्रस्तुत हुई है। पति-पत्नी को भारतीय संस्कृति में एक दूसरे का पूरक माना गया है। पतिपरायणा जगदम्बा जानकी ने आदर्श पत्नी के धर्म का निर्वहन करते हुए राम द्वारा वन गमन के समय साथ नहीं चलने के प्रस्ताव को निरस्त करते हुए कहा है–

''प्राणनाथ ! तुम्ह बिनु जग माही,
मो कहे सुखद कतई कुछ नाही,
जिय बिन देह नदी बिन वारी
सो सिय नाथ पुरुष बिन नारी।।''

जनकनंदिनी सती शिरोमणि सीता का आदर्श आर्य संस्कृति की आत्मा है। वैदेही वनवास में सीता के चरित्र को उद्घटित कर कवि हरिऔध ने नारी की महिमा उसके त्याग और शौर्य को उजागर करने का लक्ष्य प्रतिपादित किया है। जीवन साधना द्वारा पति-पत्नी की सहभागिता के आदर्श प्रस्तुति के साथ मर्यादा और स्वाभिमान की रक्षा के लिए सर्वस्व परित्याग के लिए तत्पर बैठी है–

''सुख, वासना, स्वार्थ की चिंता।
दोनों से मुँह मोडूंगी,
लोकराधन या प्रभु आराधन निमित्त सब छोडूंगी।।

भारतीय नारी के चरित्र में जितने गुण होने चाहिएँ, वे सीता के जीवन में सम्मिलित हैं। साध्वी सीता ने जीवनपर्यंत पूर्ण निष्ठा और समर्पण भाव से मर्यादापूर्वक पतिव्रत-धर्म का निर्वाह कर एक चरित्रवान नारी का आदर्श प्रस्तुत किया है। भारतीय संस्कृति में पति-पत्नी का संबंध परिवार संस्था की आधारभूत कड़ी है। राम काव्य में जगदम्बा जानकी एक आदर्श पत्नी के रूप में वर्णित हैं।

माता सीता जब अशोक वाटिका में थी, तब भी रावण के साम, दाम, दंड, भेद आदि उपायों से वह विचलित नहीं हुई। उन्होंने उस समय अपने हृदय में केवल श्रीराम का ही ध्यान रखा–

तृण धरि ओट कहती वैदेही,
सुमिरि अवधपति परम सनेही,
सुनु दस मुख खद्योत प्रकासा,
कबहुं कि नलीनी करइ विकासा।

सीता न केवल पतिव्रता नारी ही थी, अपितु उनमें त्याग, सेवा, शील और सौजन्य की पराकाष्ठा रही है। वह श्रमसाध्य जीवन व्यतीत करने में भी गौरव का अनुभव करती है। यथा-

''औरों के हाथों यहाँ नहीं चलती हूँ
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ। -साकेत

सीता ने लोकापवाद के कारण निर्वासित होने के बाद भी अपनी सहिष्णुता को बनाए रखा व सम भाव से सब कुछ सहन करते हुए भी पति को दोषी नहीं ठहराया हैं। हनुमान जी जब लंका में सीता को पहचान लेते हैं, तभी उनके मुख से व्यक्त होता है–

''दुष्कर कृतवान् रामो हीनो यदनया प्रभुः
धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनावसीदति।''

माता कौशल्या

माता कौशल्या उदारमना, सहृदया और कर्तव्यनिष्ठ नारी हैं। राम के वन गमन के समय यद्यपि कौशल्या का हृदय द्रवित हुआ था, फिर भी श्रीराम के कर्तव्य पथ पर अग्रसर होने पर वह बाधक नहीं बनी। राम के वनवास जाने के समाचारों से अवगत होने पर वह कहती हैं–

इदं तु दुःखं यदनर्थकानि में
व्रतानि दानानि च संयमाश्च हि ।
तपश्च तप्तं यदपत्य काम्यया
सुनिष्फलं बीज मिवोत मूषरे ।।

भरत के कारण राम को चौदह वर्ष का वनवास भोगना पड़ा, फिर भी वह भरत के प्रति स्नेहासिक्त रह कर अपने कर्तव्य का पूर्णरूपेण निर्वहन करती हैं। उनके मातृत्व में किसी भी प्रकार का अंतराल उपस्थित नहीं हुआ। वह भरत को ही रामरूप स्वीकार कर अपने हृदय की विशालता प्रकट करती हैं–

खींचा उनको, ले गोद, हृदय लिपटाया,
बोली तुमको पा पुनः राम को पाया ।।

सुसंस्कृत उदारमना माता कौशल्या की छाया तले बैठकर श्रीराम ने जो संस्कार अर्जित किए हैं, उसे मानसकार ने इस प्रकार व्यक्त किया है–

माता कौशल्या

जौं केवल पितु आयेसु ताता ।
तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ।
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना ।
तौ कानन सत अबध समाना ।।

कौशल्या मातृत्व भाव से परिपूर्ण थी। कैकेयी के प्रति कभी सौत का व्यवहार न कर उसे अपनी बहन का सम्मान दिया। उन्होंने राम और भरत को सदैव समभाव से देखा। पति की मृत्यु के बाद उसने सती होने का प्रस्ताव रखकर अपने शील, स्नेह, उदारता, त्याग, समर्पण का आदर्श प्रस्तुत किया है। राजेंद्र कुमार सिंघवी लिखते हैं–

''वस्तुतः कौशल्या दया, माया, ममता की मंदाकिनी हैं। तप त्याग एवं बलिदान की अकथ कथा हैं।''

कैकेयी

कैकेयी का पुत्र भरत के प्रति असीम स्नेह है। इसीलिए वह सब कुछ सहन करने पर भी भरत के लिए

राज्य प्राप्ति की अभिलाषा करती हैं। भरत द्वारा राज्य सिंहासन का त्याग कर जो निःस्वार्थ भाव प्रकट किया है वह स्तुत्य हैं। वहीं कैकयी का पश्चाताप फूट पड़ता है–

''तेरे हित मैनें हृदय कठोर बनाया,
तेरे हित मैंने राघव वन भिजवाया,
तेरे हित मैं बनी कलकिंनी नारी,
तेरे हित समझी गई महाहत्यारी।।''

वह हताश व निराश होती है तथा समस्त उपेक्षाओं को सहन करते हुए भी मातृत्व की आकांक्षा रखती हैं वह कहती हैं कि –

''थूके मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों, चूके?
छीने न मातृपद किंतु भरत का मुझसे,
रे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझ से ।''

''महर्षि वाल्मीकि की कैकेयी व्याध का क्रूर बाण हैं, मानस की कैकेयी का शाप पथ वाहक है, लेकिन साकेत की कैकेयी ममतामयी माता हैं जिसका जीवन मूल्यों के प्रति गहन राग है। कैकेयी को अपने कृत्य पर अत्यधिक दुःख होता है। वह पश्चाताप करती है। साकेतकार ने तो उनके चरित्र को उज्ज्वल व श्रेष्ठ बताया है। डॉ. उमाकांत गोयल के मतानुसार 'साकेत' के अध्ययन के पश्चात् कैकेयी के प्रति युगांतर का घनीभूत मालिन्य निःशेष रह जाता हैं। कैकेयी अपने आप को कोसती हैं। अपने मातृत्व भाव से उसने जो अपराध किया है, वह सर्वथा अक्षम्य और निंदनीय है फिर भी वह कहती हैं–

''युग-युग तक चलती रहे यह कठोर रानी ।
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी ।
निज जन्म-जन्म में जीव सुने यह मेरा,
धिक्कार! उसे था महास्वार्थ ने घेरा ।''

रामकाव्य की समस्त प्रासंगिक घटनाओं में कैकेयी प्रमुख धूरी के रूप में प्रस्तुत हुई हैं। पुत्र मोह में कैकेयी ने राम को वनवास भेज कर अपने स्वार्थ का ही परिचय दिया, किंतु कवि मनीषियों ने कैकेयी के इस कृत्य को लोकहिताय मानते हुए उसकी इस दूरदर्शिता कि सराहना की है। श्रीराम ने माता कैकेयी का सदा सम्मान किया है। श्री चांद मल चंद्र ने तो कैकेयी के चरित्र में उज्वल रूप ही देखा है। राक्षसों के विनाश और राष्ट्रहित के लिए जो उसने निर्णय लिया उसका स्वागत करते हुए कहा गया है–

''सौ बार धन्य वह एक लाल की माई
जिस जननी ने जना भरत-सा भाई।।''

महर्षि वाल्मीकि की कैकेयी व्याध का क्रूर बाण हैं, मानस की कैकेयी का शाप पथ वाहक है, लेकिन साकेत की कैकेयी ममतामयी माता हैं जिसका जीवन मूल्यों के प्रति गहन राग है। कैकेयी को अपने कृत्य पर अत्यधिक दुःख होता है। वह पश्चाताप करती है। साकेतकार ने तो उनके चरित्र को उज्ज्वल व श्रेष्ठ बताया है।

सुमित्रा

सुमित्रा ने सदैव अपने पुत्रों को शुभ कार्यों के लिए प्रेरित किया है। वह चाहती हैं कि लक्ष्मण मन, वचन व कर्म से अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री राम की निष्ठापूर्वक समर्पण भाव से सेवा करें। उनका कथन हैं कि–

रागु रोषु इरिषा मदु मोहू ।
जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू ।।
सकल प्रकार विकार बिहाई ।
मन क्रम वचन करेहु सेवकाई ।।

राम वन गमन के समय अनुमति प्राप्त करते समय सुमित्रा कहती हैं ''आज से श्री राम ही तुम्हारे पिता हैं तथा जग जननी सीता तुम्हारी माता हैं और वन तुम्हारे लिए अयोध्या से कम नहीं है। उसकी भावना हैं कि यदि पुत्र शुभ कार्यों को करते हुए मृत्यु भी प्राप्त कर लेता है तो माता अपने को धन्य मानती है। जब लक्ष्मण को शक्ति बाण लगा तब भी माता सुमित्रा कह उठती हैं–

उसके पुत्र ने उसके दूध की लज्जा रखी।''

उर्मिला

'साकेत' पूर्व के राम कव्यों में उर्मिला की घोर अपेक्षा की गई है जिसकी आधुनिक काल में आ कर गुप्त जी ने क्षतिपूर्ति की है। उर्मिला के उपेक्षित जीवन को उभारने का प्रसंग 'साकेत' और 'उर्मिला' में अभिव्यक्त हुआ है। 'साकेत' का समग्र नवम सर्ग उर्मिला की विरह वेदना से भरा हुआ है। वह समस्त सांसारिक सुखों का परित्याग कर अपनी जीवनचर्या को योगमय बना लेती हैं –

मानस मंदिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती थी उस विरह में, बनी आरती आप ।
आँखों में प्रिय मूर्ति थी, भूले थे सब भोग,
हुआ योग से भी अधिक, उसका विषम वियोग ।।

वह विरहिणी होते हुए भी अपने पारिवारिक दायित्वों का पालन करती हैं। वह केवल निजी वेदना में ही नहीं डूबी रहती, परदुःखकातर होने के कारण अपने चतुर्दिक सभी की सुध लेती हैं।

'साकेत' पूर्व के राम कव्यों में उर्मिला की घोर अपेक्षा की गई है जिसकी आधुनिक काल में आ कर गुप्त जी ने क्षतिपूर्ति की है। उर्मिला के उपेक्षित जीवन को उभारने का प्रसंग 'साकेत' और 'उर्मिला' में अभिव्यक्त हुआ है। 'साकेत' का समग्र नवम सर्ग उर्मिला की विरह वेदना से भरा हुआ है। वह समस्त सांसारिक सुखों का परित्याग कर अपनी जीवनचर्या को योगमय बना लेती हैं

मांडवी

राजा जनक के भाई कुशध्वज की कन्या मांडवी का विवाह भरत जी से हुआ। वह आदर्श चरित्रवान, निःस्वार्थ भाव से परिपूर्ण देवी स्वरूपा नारी थीं। राम काव्य में मांडवी का चरित्र चित्रण संक्षेप में ही प्रस्तुत हुआ है। वह आशा-निराशा, राग-विराग के अंतर्द्वंद्व से ग्रसित होकर भी साध्वी नारी के रूप में प्रस्तुत हुई हैं। वह संयोगिनी होकर भी वियोगिनी का दंश झेल रही है। वह भरत के दुख-सुख में सदैव साथ रहती हैं। सेवा भावना और त्याग से परिपूर्ण उनका जीवन अनुकरणीय है। पति की व्यथित दशा देखकर वह कहती हैं–

''नम्र स्वर में वह बोली 'नाथ' !
बटाऊँ कैसे दुःख में हाथ,
बता दो यदि हो कहीं उपाय,
टपाटप गिरे अश्रु असहाय ।।''

''मांडवी तापसी जीवन के कारण एक विशिष्ट व्यक्तित्व को ग्रहण किए हुए है और इसीलिए हिंदी महाकाव्यों के नारी पात्रों के मध्य उसे अलग ही खोजा जा सकता है।'' - डॉ. श्याम सुन्दर दास

मंदोदरी

नीति परायणा मंदोदरी ने राम की शूरवीरता का परिचय देते हुए रावण को समझाने का भरसक प्रयास किया। उसने कहा था–

अति बल मधु कैटभ जेहि मारे ।
महाबीर दितिसुत संघारे ।।
जेंहि बलि बाँधि सहसभुजमारा ।
सोई अवतरेउ हरन महि मारा ।।

रावण के राजकाज में मंदोदरी का पूरा सहयोग रहता था। वह राजनीति में पारंगत थी। राजकाज के कुशल संचालन तथा जनता के विचारों से अवगत होने के लिए महिला दूतों की नियुक्ति कर रखी थी। रावण ने

अपने अभिमान के वशीभूत होकर मंदोदरी का परामर्श स्वीकार नहीं करते हुए राम से विरोध बनाए रखा।

अनुसूया

अत्रि मुनि की धर्म पत्नी अनुसूया का उल्लेख भी उत्तम नारी के चरित्र के रूप में मानस में अंकित हुआ है। वह सीता को पतिव्रत धर्म का मर्म समझाते हुए कहती हैं–

उत्तम के अस वस मन माहीं ।
सपनेहुँ आन पुरुष जग माहीं ।
मध्यम परपति देखइ कैसे ।
भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ।।

भक्त शबरी

रामकाव्य में शबरी की भक्ति का विशेष वर्णन मिलता है। वह राम की अनन्य भक्ति में लीन होकर उनके आगमन की प्रतीक्षा करती हैं और अपनी भावना को भक्तिमय बनाते हुए उनका आतिथ्य सत्कार करती हैं। प्रभु राम ने भी उनके आतिथ्य सत्कार को स्वीकार कर अति प्रसन्नता का अनुभव किया है।

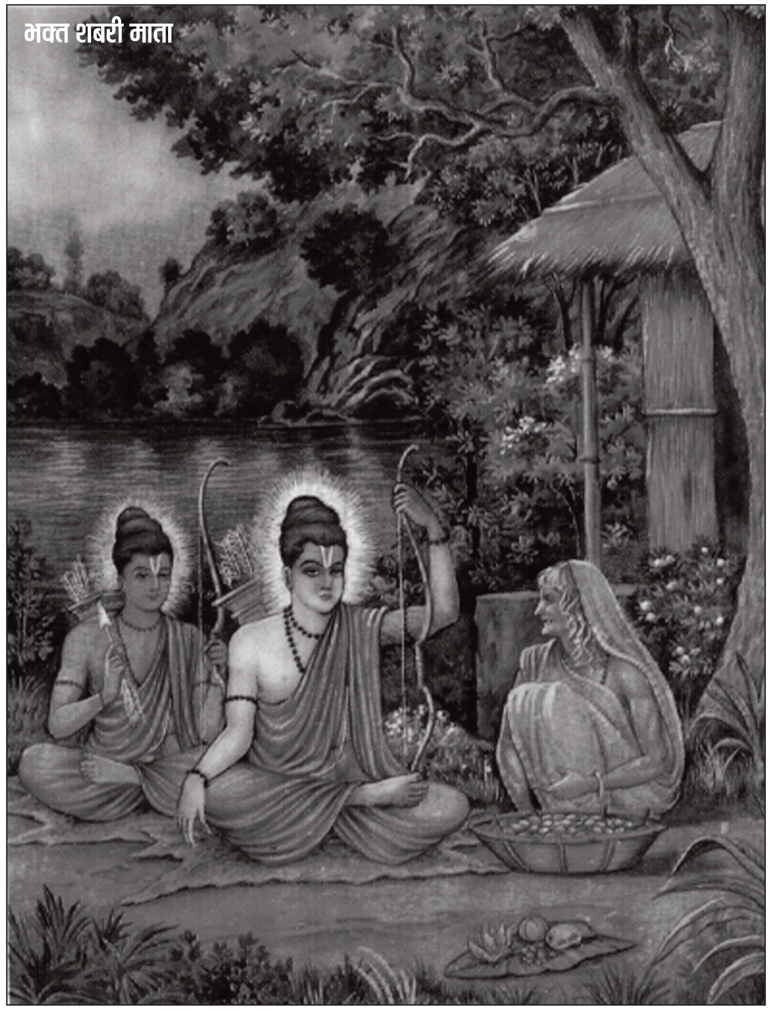
भक्त शबरी माता

कंद, मूल, फल सुरस
अति दिए राम कहुँ आन ।
प्रेम सहित प्रभु खाए,
बारंबार बखानी ।।

शबरी के इस प्रसंग से श्री राम ने अप्रत्यक्ष रूप से उपेक्षित व वंचित वर्ग के प्रति अपना प्रेम प्रकट करते हुए उनसे दूरियों को समाप्त करने का संकेत दिया है। वर्तमान परिपेक्ष्य में अछूतोद्धार की दिशा में अनुकरणीय तथ्य है।

त्रिजटा

त्रिजटा राक्षसी होते हुए भी संस्कारवान तथा नीति निपुण थी। अशोक वाटिका में वह सीता की परम स्नेही सखी के रूप में प्रस्तुत हुई। सीता को भय मुक्त रखने में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सीता के आत्मदाह की चाह से व्यथित होकर त्रिजटा सीता को समझाती हैं कि आत्मदाह महापाप हैं। यह तो कायरता है।

अशोक वाटिका में माता सीता को ढ़ाढस बँधती त्रिजटा

वर्तमान परिवेश में त्याग, समर्पण, सहयोग, सहायता, निष्ठा, आस्था, सहिष्णुता आदि गुण तिरोहित होते जा रहे हैं। रामकाव्य श्रेष्ठतम काव्यग्रंथ है जो मानव मात्र को जीवन मूल्यों की शिक्षा प्रदान करते हैं तथा राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हैं। इन काव्य ग्रंथों मे वर्णित नारी चरित्र आदर्शों की स्थापना, विकृतियों का समाहार, नारी महिमा की पुनर्स्थापना और कर्तव्य बोध तथा नारी उत्पीडन के विरुद्ध कुशल उपदेशक का कार्य करते हैं। नारी अस्मिता का उल्लेख करते हुए आचार्य तुलसी ने कहा है। '' मैं महिला को समता, ममता और क्षमता की त्रिवेणी मानता हूँ। समता से परिवार में संतुलन व क्षमता से राष्ट्र व समाज को संरक्षण मिलता है।'

इस प्रकार रामकाव्य में वर्णित नारी चरित्र वर्तमान परिवेश में भी प्रेरक एवं मानवीय मूल्यों की स्थापना में सहायक सिद्ध होते हैं।

(लेखक राजस्थान के पूर्व जिला शिक्षा अधिकारी हैं।)

> स्वामी विवेकानंद ने देश में उस समय आशा की किरण जाग्रत की जब देश अँग्रजों की गुलामी से कराह रहा था और उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह क्या करे। ऐसे समय में उन्होंने देश को ज्ञान, कर्म, भक्ति और राजयोग का जो संदेश दिया वह सार्वकालिक है। आज की प्रेमहीन, दिशाहीन, यांत्रिक, स्वार्थी और दिखावे वाली खोखली, मृत-सी जीवनशैली वाले समाज में स्वामी विवेकानंद के ओजस्वी विचार प्रवाह की विद्यमानता में उम्मीद की एक किरण-सी है कि मानव फिर से अपनी मानवीय संस्कृति और मानवीयता पर गर्व करेगा।

डॉ. चंदन कुमारी

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के अग्रदूत : स्वामी विवेकानंद

लोकहित सर्वोपरि के अनन्य साधक, सनातन धर्म के सर्वोत्कृष्ट व्याख्याता, समन्वय के महान् आचार्य, वेदांत के अप्रतिम प्रसारक, साहसी व्यक्तित्व के धनी स्वामी विवेकानंद का जन्म 12 जनवरी, 1863 को बालक नरेंद्रनाथ दत्त (नरेन) के रूप में कलकत्ता के दत्त परिवार में हुआ। उनकी माता का नाम भुवनेश्वर देवी एवं पिता का नाम विश्वनाथ दत्त है। सन् 1881 में रामकृष्ण परमहंस से उनकी भेंट हुई और यहीं से उनके जीवन में अनोखा परिवर्तन आया। उन्होंने गुरु के सान्निध्य में ईश्वर की अनुभुति पाई और ईश्वरीय सत्ता में उनका विश्वास दृढ़ हो गया। सामाजिक सुधार की दृष्टि से उस समय मूर्ति-पूजा का विरोध हो रहा था तब उन्होंने स्पष्ट कहा था कि यदि मूर्ति पूजा से श्रीरामकृष्ण परमहंस जैसे व्यक्ति उत्पन्न हो सकते हैं, तो हजारों मूर्तियों की पूजा करो। प्रभु तुम्हें सिद्धि दें, जिस किसी भी उपाय से हो सके इस प्रकार के महात्मा पुरुषों की सृष्टि करो। नरेन ने अपने गुरु से एक प्रश्न किया और प्रत्युत्तर से उनके जीवन में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ आया। 'क्या, क्यों और कैसे' से भरे हुए उनके मन को दिव्य शांति मिली, साथ ही आध्यात्मिक पथ यात्रा की अन्तः स्फूर्त प्रेरणा भी। गुरु के प्रति पूर्ण समर्पित और ईश्वरीय शक्ति में दृढ़ आस्था वाले इस बालक ने हर नर में नारायण को देखा; तभी तो सेवाव्रती का धर्म निभा पाया। इनके अनुसार मूर्ति में बसे हुए उस सर्वशक्तिमान का साक्षात्कार जीव में प्रत्यक्ष है, बस आवश्यकता अनुभूत करने की है। इस अनुभूति के बाद कहीं कुछ अप्रिय घटित होने की संभावना ही नहीं रहेगी। भला कौन होगा जो अपने प्रिय का, अपने ही स्वरूप का अहित करना चाहेगा! शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन का सार भी यही है।

'ब्रह्म सत्यं जगन्न मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।' (अर्थात् ब्रह्म सत्य है। यह संसार मिथ्या है। जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं।) आत्मा, ब्रह्म, बंधन और मोक्ष संबंधी इनके विचारों

पर जहाँ आदिगुरु शंकराचार्य का प्रभाव है, वहीं सेवा और पुनर्जागरण संबंधी इनके विचार में श्रीरामकृष्ण परमहंस का प्रभाव दिखता है। मोक्ष के लिए इन्होंने जिन चार मार्गों का प्रतिपादन किया वह हैं ज्ञान, कर्म, भक्ति और राजयोग। इन पर आधारित स्वामी विवेकानंद की चार कृतियाँ उपलब्ध हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं– 'ज्ञानयोग', 'भक्तियोग', 'कर्मयोग' और 'राजयोग'।

ज्ञानयोग का प्रथम चरण अध्ययन को अनुभूत करने से संबद्ध हैं। केवल पढ़ना या सुनना भर काफी नहीं है। उसका चिंतन और अनुसरण भी आवश्यक है। ध्यानस्थ होने के लिए मन, शरीर और इंद्रियों पर पूर्ण नियंत्रण यानी पूर्ण वैराग्य की अवस्था में तात्त्विक ज्ञान साधना की ओर मनुष्य की तत्परता जिसके परिणामस्वरूप वह 'अहंब्रह्मास्मि' का भावक बन जाता है, वस्तुतः ज्ञानयोग है।

> **कर्ममार्ग के द्वारा भी प्रभु-प्राप्ति संभव है। विवेकानंद ने निष्काम व निस्वार्थ कर्म को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। आदर्श कर्म करते हुए न तो यह देखा जाता है कि इसका मुझे क्या फल मिलेगा और न ही जिसके लिए मैं कर्मलीन हूँ, वो कभी मेरा उपकार करेगा। कर्म साधना हमारी आत्मशक्ति में संवर्धन के साथ मानवता के लिए कल्याणकारी होती है। कर्म ही वास्तविक कर्मयोग है।**

भक्ति योग में भावना सर्वोपरि है। यह सरल, सहज और सर्वसुलभ है। ईश्वर के प्रति प्रेम व श्रद्धा का योग ही भक्ति है। भक्ति मार्ग पर चलने के लिए भक्त में समर्पण, विश्वास, निरीहता, परदुःखकातरता, विनयशीलता व सहज संतोष अनिवार्य है।

कर्ममार्ग के द्वारा भी प्रभु-प्राप्ति संभव है। विवेकानंद ने निष्काम व निस्वार्थ कर्म को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। आदर्श कर्म करते हुए न तो यह देखा जाता है कि इसका मुझे क्या फल मिलेगा और न ही जिसके लिए मैं कर्मलीन हूँ, वो कभी मेरा उपकार करेगा। कर्म साधना हमारी आत्मशक्ति में संवर्धन के साथ मानवता के लिए कल्याणकारी होती है। कर्म ही वास्तविक कर्मयोग है।

इनका राजयोग मार्ग महर्षि पतंजलि के योग सूत्र पर आधारित है। इसमें ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के नियंत्रण के लिए कुछ विशिष्ट पद्धतियों का पालन बिना किसी चूक के अनिवार्य रूप से करना आवश्यक बताया गया है। इसमें यौगिक क्रियाएँ भी सम्मिलित हैं। अपने चरमावस्था में यहाँ भी साधक ध्यानस्थ ही होता है।

ये चारों मार्ग परस्पर संबद्ध हैं। व्यक्ति अपनी अभिरुचि एवं क्षमता केअनुसार किसी का भी चयन कर आगे बढ़ सकता है। अपने व्याख्यानों में कई बार उन्होंने शास्त्रों का तर्क देते हुए सभी धर्मों के परस्पर संबद्धता और एक्य की बात कही। अपनी अद्‌भुत धार्मिक और तात्विक व्याख्याओं से इस भारत को संपूर्ण विश्व का गुरु बनाने वाले स्वामी विवेकानंद का अपनी भारत भूमि से, यहाँ की संस्कृति से, यहाँ की भाषा से, यहाँ के लोगों से और संपूर्ण चराचर जगत् से अनन्य प्रेम रहा है। उनके प्रेम के प्रवाह को निरंतर बनाए रखने का उत्तरदायित्व हमारा है। इस ओर हम क्या कोई कदम उठा रहे हैं? क्या हम अपने छोटे-छोटे दायरे के भीतर ही मनुष्यता की अलख जगा पा रहे हैं?

नैतिकता का कोई सार्वभौम सिद्धांत नहीं है। यह देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। इसे देखते हुए स्वामी विवेकानंद ने कुछ आदर्शों की रूपरेखा बनाई और मनुष्य जाति के ज्ञान चक्षु को खोलने के लिए, उस दिव्य मनुष्य निर्माण वाली शिक्षा को हमारे बीच रखा जो स्वामी विवेकानंद के शब्दों में यहाँ द्रष्टव्य है ''सुनो प्रत्येक नर और नारी, प्रत्येक शिशु बिना किसी जाति या जन्म के विचार के, बिना दुर्बलता या शक्ति की भावना के यह सुने और सीखें कि सबल और निर्बल के पीछे, ऊँच और नीच के पीछे, सबके पीछे वही अनंत आत्मा है, जो सबकी अनंत संभावना और अनंत सामर्थ्य पर बल देता हुआ उन्हें महान् और उत्तम बनाने का आश्वासन प्रदान करता है। हम प्रत्येक जीव के समक्ष घोषणा करें– उठो, जागो और ध्येय की प्राप्ति तक मत रुको। ... दुर्बलता के इस सम्मोहन से जागो। कोई भी वस्तुतः दुर्बल नहीं है; यह आत्मा अनंत, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है। खड़े होओ, अपने अस्तित्व पर बल दो, अपने अन्तः स्थित परमात्मा की घोषणा करो, उन्हें अस्वीकार मत करो। ...हम मनुष्य निर्माण करने वाला धर्म चाहते हैं...। हम सर्वतः मनुष्य निर्माण करने वाली शिक्षा ही चाहते हैं। हम मनुष्य निर्माण करने वाला सिद्धांत ही चाहते हैं और यह रही सत्य की कसौटी। जो भी तुम्हे शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनाता है, उसे विष के समान त्याग दो; उसमें किसी प्रकार का जीवन नहीं है, वह सत्य नहीं हो सकता। सत्य बलप्रद होता है । सत्य पवित्र स्वरूप है। सत्य सर्वज्ञान स्वरूप है ।...दुर्बल करने वाले रहस्यवाद छोड़ दो और सबल बनो।... महानतम सत्य संसार में सबसे सरल हुआ करते हैं, तुम्हारे अपने अस्तित्व की तरह सरल। अपने अस्तित्व को गरिमा की दृष्टि से देखना स्वीकार योग्य महत्त्वपूर्ण तथ्य है। निजी हेयता का शिकार होकर ही कोई भी प्राणी कुमार्गी बनता है और विकृतियों का शिकार होता है तथा स्वयं का, परिवार का और राष्ट्र का अहितकारक बन आता है।

> **हम ही अपने सारे पतन के लिए उत्तरदायी हैं। हमारे सामंतवादी पूर्वज देश कि साधारण जनता को अपने पैरों तले इतना रौंदते गए कि वह असहाय बन गए और इस अत्याचार के कारण यहाँ के गरीब लगभग भूल ही गए कि वह भी मनुष्य हैं। उन्हें शताब्दियों से केवल लकड़ी काटने वाले या पानी ढोनेवाले बने रहने के लिए ही बाध्य किया गया है ।**
>
> **–स्वामी विवेकानंद**

देश और समाज की हृदयद्रावक स्थिति को स्पष्ट करते हुए युवाओं एवं भावी समाज-सुधारकों के नाम अपने संदेश में स्वामी विवेकानंद कहते हैं,– ''हम ही अपने सारे पतन के लिए उत्तरदायी हैं। हमारे सामंतवादी पूर्वज देश कि साधारण जनता को अपने पैरों तले इतना रौंदते गए कि वह असहाय बन गए और इस अत्याचार के कारण यहाँ के गरीब लगभग भूल ही गए कि वह भी मनुष्य हैं। उन्हें शताब्दियों से केवल लकड़ी काटने वाले या पानी ढोनेवाले बने रहने के लिए ही बाध्य किया गया है ..।

...अतएव मेरे भावी सुधार को, मेरे भावी देश भक्तो, तुम अनुभव करो, तुम हृदयवान बनो। क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों की करोड़ों संतानें आज पशु तुल्य हो गयी हैं? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों आदमी आज भूखों मर रहे हैं और लाखों लोग शताब्दियों से इसी भाँति मरते आए हैं? क्या तुम अनुभव करते हो की अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को ढक लिया है? क्या तुम यह सब सोचकर द्रवित हो जाते हो? क्या इस भावना ने तुम्हारी नींद को गायब कर दिया है?... क्या तुम अपने नाम-यश, स्त्री-पुत्र, धन-संपत्ति यहाँ तक कि अपने शरीर की सुध भी बिसर गए हो? क्या सचमुच तुम ऐसे हो गए हो? यदि हाँ, तो जानो तुमने देश भक्त बनने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है। ...

केवल व्यर्थ की बातों में शक्ति का क्षय न करते हुए इस दुर्दशा का निवारण करने के लिए क्या तुमने कोई यथार्थ कर्तव्य पथ निश्चित किया है? क्या लोगों को गाली न देकर उनकी सहायता का कोई उपाय सोचा है? क्या स्वदेशवासियों को उनकी इस जीवनमृत अवस्था से बाहर निकालने का कोई मार्ग ठीक किया है? क्या उनके दुखों को कम करने के लिए दो सांत्वनादायक शब्दों को खोजा है? किंतु इतने में ही पूरा न होगा। क्या तुम पर्वतकाय विघ्न बाधाओं को लाँघकर कार्य करने के लिए तैयार हो? यदि सारी दुनिया हाथ में नंगी तलवार लेकर खड़ी हो जाए तो भी क्या तुम जिसे सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस करोगे?...यदि तुम में ये तीन बातें हैं तो तुम में से प्रत्येक अद्भुत कार्य कर सकता है।''

''आगामी पचास वर्षों के लिए ...हमारे मन से .. शेष सभी व्यर्थ के देवता लुप्त हो जाएँ। केवल यही, यह हमारी जाति ही ऐसी देवता है जो जाग रहा है, उसके सभी जगह हाथ हैं, सभी जगह पैर हैं, सभी जगह आँखें हैं, वह सबको व्याप्त करके स्थित है। दूसरे सब देवता सो रहे हैं। व्यर्थ के देवताओं के पीछे जाकर क्या लाभ, जब हम अपने चारों ओर विद्यमान इस ईश्वर की इस विराट् की पूजा नहीं कर पाते? ...सबसे पहली उपासना विराट् की उपासना है। हमारे चारों ओर जो हैं, उनकी उपासना है। ...ये मनुष्य और जीव-जंतु– यह ही हमारे देवता हैं और यदि किसी देवता की हमें सबसे पहले उपासना करनी चाहिए तो वे हैं हमारे देशवासी।''

> **''आगामी पचास वर्षों के लिए ...हमारे मन से .. शेष सभी व्यर्थ के देवता लुप्त हो जाएँ। –इनके पीछे जाकर क्या लाभ, जब हम अपने चारों ओर विद्यमान इस ईश्वर की, इस विराट् की पूजा नहीं कर पाते? ...सबसे पहली उपासना विराट् की उपासना है। ये मनुष्य और जीव-जंतु– यह ही हमारे देवता हैं और यदि किसी देवता की हमें सबसे पहले उपासना करनी चाहिए तो वे हैं हमारे देशवासी।''**

स्वामी विवेकानंद के इस संदेश में एक अखंड और संगठित राष्ट्र की अवधारणा सन्निहित है। लोकहित में लोकशक्ति के संगठन का यह कार्य लोकशिक्षा के बगैर असंभव है। विश्व गुरुत्व की क्षमता वाले भारत के निवासी धर्मोन्मुख हैं। अतः धर्म को ही राष्ट्रीय जीवन का मेरुदंड मानते हुए आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार का कार्य उन्होंने भारत और भारतेत्तर देशों में क्रमशः प्रारंभ किया। इसके लिए शिक्षालयों की भी स्थापना की गई। सुप्त ब्रह्मभाव को जाग्रत करने वाले ये शिक्षालय चैतन्य के संवाहक बने। यहाँ शास्त्रों और उपनिषदों के माध्यम से स्वधर्म पालन और कर्मवीरता का वह पाठ पढ़ाया जाता था जिससे मन के साथ-साथ जीवन का भी अँधेरा आसानी से छंट जाता और मानव जीवन का लक्ष्य स्पष्ट हो जाता।

वैर-वैमनस्य और दुराव के अभाव में ही 'वसुधैव कुटुंबकम्' का भाव निहित है और इसके समुचित पोषण के लिए वेदांत के सत्यों को प्रतिपादित करते हुए स्वामी विवेकानंद ने सार्वभौम धर्म की परिकल्पना की जिसका स्वरूप यहाँ द्रष्टव्य है, ''यदि कभी कोई सार्वभौमिक धर्म होना है, तो वह किसी देश या काल से सीमाबद्ध नहीं होगा; वह उस असीम ईश्वर के सदृश ही असीम होगा, जिसका वह उपदेश देगा; जिसका सूर्य, कृष्ण और ईसा के अनुयायियों पर, संतों पर और पापियों पर सामान रूप से प्रकाश विकीर्ण करेगा; जो न तो ब्राह्मण होगा, न बौद्ध, न ईसाई और न मुसलमान। वरन् सबकी समष्टि होगा, किंतु फिर भी जिसमें विकास के लिए अनंत अवकाश होगा; जो इतना उदार होगा की पशुओं के स्तर से किंचित उन्नत निम्नतम घृणित जंगली मनुष्य से लेकर अपने हृदय और मस्तिष्क के गुणों के कारण मानवता से ऊपर उठ गए उच्चतम मनुष्य तक को स्थान दे सकेगा।

वह धर्म ऐसा होगा जिसकी नीति में उत्पीड़न या असहिष्णुता का स्थान नहीं होगा; वह प्रत्येक स्त्री और पुरुष में दिव्यता को स्वीकार करेगा और उसका संपूर्ण बल और सामर्थ्य मानवता को अपनी सच्ची दिव्य प्रकृति का साक्षात्कार करने के लिए सहायता देने में ही केंद्रित होगा। आप ऐसा धर्म सामने रखिए और सारे राष्ट्र आपके अनुयायी बन जाएंगे। ... ईसाई को हिंदू या बौद्ध नहीं बनना है, न कि हिंदू या बौद्ध को ईसाई ही। पर हाँ, प्रत्येक को चाहिए की वह दूसरों के सारभाग को आत्मसात कर पुष्टि-लाभ करे और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपनी निजी वृद्धि के नियम के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हों। राष्ट्र के पुनर्निर्माण का दायित्व हर मनुष्य पर समरूप है जिसके लिए समन्वय, शांति, अहिंसा, सत्य, प्रेम, निःस्वार्थ सेवा, त्याग, परस्पर साहचर्य इत्यादि मानवीय गुणों की व्यावहारिक प्रतिष्ठा आवश्यक है जो निज धर्म के अंगीकार व निर्वाह से सहज ही सुलभ है। ''

> **''यदि इस समाज में, इस राष्ट्रीय जीवन रूपी जहाज में छेद हैं तो हम तो उसकी संतान हैं। आओ चलें उन छेदों को बंद कर दें ... हम अपना भेजा निकालकर उसकी डॉट बनायेंगे और जहाज के उन छेदों में भर देंगे पर उसे कोसना नहीं? नहीं-नहीं, कभी नहीं, इस समाज के विरुद्ध एक शब्द न निकालो। उसकी अतीत की गरिमा के लिए मेरा उस पर प्रेम है।''**

मनुष्य निर्मायक धर्म की स्थापना वस्तुतः मनुष्य की स्वाभाविक उन्नति हेतु सुमार्ग का प्रशस्तीकरण है। किसी भी प्रकार की दुर्बलता (शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक) निर्माण और उन्नति में अवरोध उत्पन्न करती है इसलिए इन दुर्बलताओं को त्याग कर आत्मबली बनने के लिए, संपूर्ण मानव जाति का स्वामी विवेकानंद ने बारम्बार आह्वान किया। उन्नीसवीं सदी में भारत के इस युवा संन्यासी ने पूरे विश्व में भारत की आध्यात्मिकता का परचम लहरा दिया। उस परिप्रेक्ष्य में आज की इक्कीसवीं सदी की हमारी युवा पीढ़ी को स्वयं को टटोलने की आवश्यकता है। स्व की उन्नति के साथ 'सर्व' की उन्नति वाले भाव के साथ 'पर' को उसके दोष के लिए कोसने की जगह उन दोषों के निवारण हित प्रयत्न की प्रवृत्ति का आत्मसातीकरण हो– यही राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का मूल मंत्र है जो स्वामी विवेकानंद के शब्दों में यहाँ द्रष्टव्य है, ''यदि इस समाज में, इस राष्ट्रीय जीवन रूपी जहाज में छेद हैं तो हम तो उसकी संतान हैं। आओ चलें उन छेदों को बंद कर दें ... हम अपना भेजा निकालकर उसकी डॉट बनायेंगे और जहाज के उन छेदों में भर देंगे पर उसे कोसना नहीं? नहीं-नहीं, कभी नहीं, इस समाज के विरुद्ध एक शब्द न निकालो। उसकी अतीत की गरिमा के लिए मेरा उस पर प्रेम है।'' आज की प्रेमहीन, दिशाहीन, यांत्रिक, स्वार्थी और दिखावे वाली खोखली, मृत-सी जीवनशैली वाले समाज में स्वामी विवेकानंद के ओजस्वी विचार प्रवाह की विद्यमानता में उम्मीद की एक किरण-सी है कि मानव फिर से अपनी मानवीय संस्कृति और मानवीयता पर गर्व करेगा।

(लेखिका रामकथा की शोधार्थी हैं।)

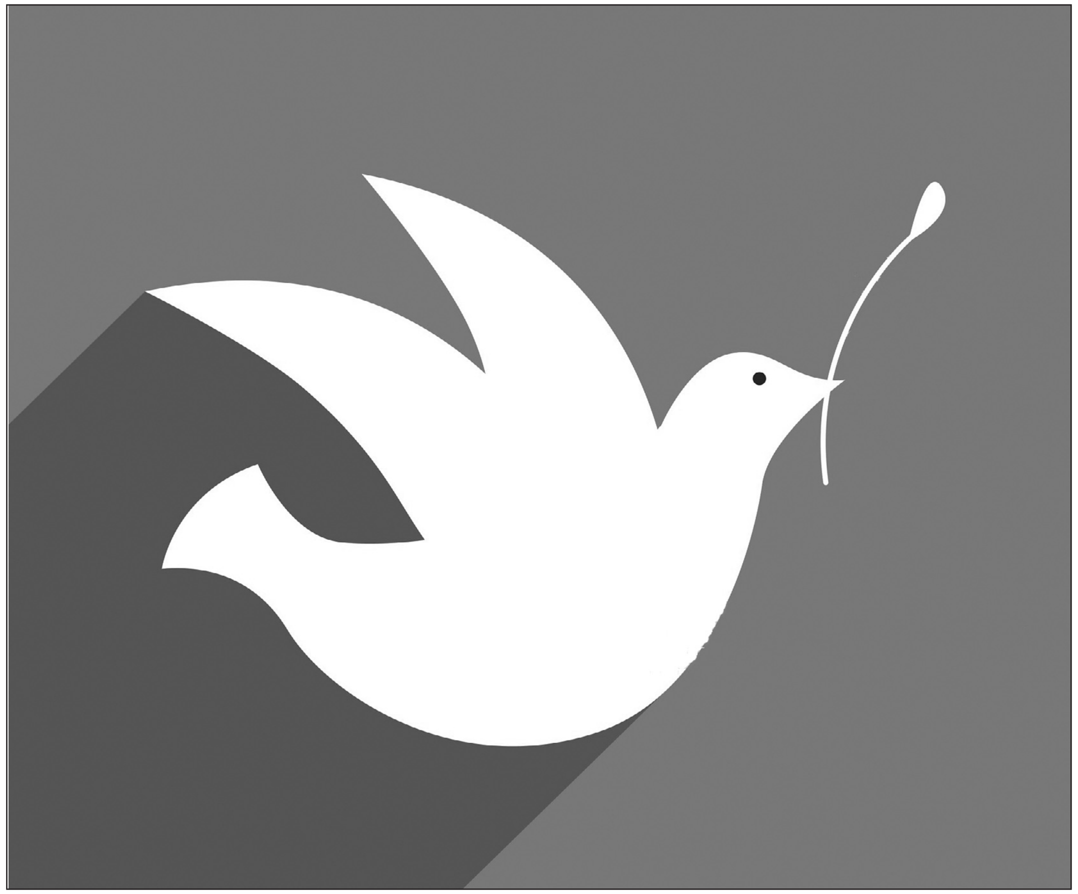

> वैर किसी भी प्रकार का हो और किसी भी स्तर पर हो, वह पूर्णतः नकारात्मक होता है और जीवन पर उसका दुष्प्रभाव पड़ता है। इसलिए वैर को वैर से नहीं, अपितु मन में मैत्री व करुणा का भाव स्थायी रूप से बसा कर ही समाप्त किया जा सकता है। इस संबंध में एक लोक कथा है – बरसात के मौसम में एक पक्षी पानी से बचाव के लिए अपने परिवार के साथ वृक्ष पर अपने घोंसले में बैठा था। वहीं दूसरी ओर एक बंदर वृक्ष पर बैठा पानी में भीग रहा था। इस पर पक्षी ने बंदर को कहा- ''अरे भाई, हम तो इतने छोटे होकर भी अपना घोंसला बनाकर अपने बचाव का इंतजाम किए हुए हैं, पर तुम तो इतने बड़े और हाथ-पैर वाले हो कर भी अपने लिए कोई इंतजाम नहीं कर पाए।'' इस पर बंदर को लगा कि यह मामूली-सी चिड़िया मुझे उपदेश दे रही है और गुस्से में आकर उसने उसका घोंसला तहस-नहस कर दिया। लेकिन उस पक्षी ने बंदर के इस व्यवहार का उत्तर वैर ठान कर नहीं दिया वरन् पुनः अपना घोंसला बनाने के लिए तिनके व पत्ते जुटाने लगा । व्यक्ति के लिए भी इसी प्रकार वैर का उत्तर वैर से न देकर सद्भावना से देना ही श्रेयस्कर है।

सीताराम गुप्ता

चलें वैर से अवैर की ओर

वैर को वैर से नहीं अपितु मन में मैत्री व करुणा के भाव स्थायी रूप से बसाकर उसे समाप्त किया जा सकता है। वैर एक पूर्णतः नकारात्मक भाव अथवा क्रिया है इसमें संदेह नहीं, अतः इससे मुक्ति अनिवार्य है। यदि हम वैर-विरोध को त्यागकर समन्वय, सद्भाव अथवा मैत्री के मार्ग पर चलें, तो जीवन सचमुच आनंददायक हो जाए। हम वैर का त्याग कर अवैर की ओर कैसे अग्रसर हों ये जानने से पहले यह जानना भी अत्यंत अनिवार्य है कि वास्तव में वैर क्या है? वैर के लिए अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं जैसे बैर, शत्रुता, वैमनस्य, दुश्मनी, अदावत, ऐन्मिटि आदि। वैर को सही तरह से जानने अथवा परिभाषित करने के लिए यह जानना भी जरूरी है कि वैर किससे होता है और क्यों? वैर के संबंध में सबसे दिलचस्प बात यह सामने आती है कि वैर हमेशा अपने किसी परिचित अथवा जानकार से ही होता है। किसी अजनबी अथवा अपरिचित से कभी वैर हो ही नहीं सकता।

कोई अपरिचित यदि हमारा अहित भी करता है, तो हम उससे वैर नहीं रख सकते। कर ही नहीं सकते। कोई परिचित व्यक्ति हम पर आक्रमण करके अथवा हमें लूटकर भाग जाता है, तो हमारे पास वैर करने का कारण है; लेकिन परिचय के अभाव में हम उससे वैर ठान ही नहीं सकते। तो वैर का प्रमुख तत्त्व परिचय अथवा जानकारी ही है। किसी से परिचय के कारण ही राग-द्वेष अथवा ईर्ष्या होती है और परिचय के कारण ही आत्मीयता, मित्रता अथवा शत्रुता होती है। प्रश्न उठता है कि हमारा परिचय किन से, कैसे और क्यों होता है? हमारा सबसे अधिक परिचय तो हमारे अपने रक्त संबंधों या अन्य संबंधों में ही होता है। उसके बाद हमारे मित्र व हमारे आसपास रहने वाले व्यक्ति आते हैं। इसके बाद हम जिनके साथ काम करते हैं अथवा व्यवसाय या सेवाओं का आदान-प्रदान

करते हैं वे सब लोग हमारे परिचितों में आते हैं। प्रायः हम न तो किसी के मित्र होते हैं और न शत्रु लेकिन मानवीय व्यवहार हमें किसी का मित्र, तो किसी का शत्रु बना देता है। इस मानवीय व्यवहार के कुछ प्रमुख बिंदु इस प्रकार से हैं–

बेईमानी और लोभ-लालच

बेईमानी और लोभ-लालच पूरे संसार में वैर का सबसे बड़ा कारण है। यदि न्यायालयों में चल रहे विवादों का अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जाता है कि ज्यादातर विवाद बेईमानी के कारण ही होते हैं। जब हम किसी का हक मारते हैं अथवा आर्थिक शोषण करते हैं, तो प्यार नहीं, वैर ही बढ़ेगा। इसी प्रकार से लालच भी बेईमानी का ही एक रूप है। लोग लालची व्यक्ति के व्यवहार के कारण उसके भी शत्रु बन जाते हैं। यदि संसार में वैर-विरोध कम करना है तो हमें न केवल बेईमानी को पूर्ण रूप से त्यागना, होगा अपितु लोभ-लालच पर भी लगाम लगानी होगी।

अमानत में खयानत करना

अमानत में खयानत बेईमानी का ही एक रूप है जिसमें किसी को आर्थिक हानि पहुँचाने के साथ-साथ उसके विश्वास को भी कुचल दिया जाता है। जब हम किसी पर मन से विश्वास करते हैं, तो ऐसे में विश्वासघात करने वाले के प्रति हर प्रकार की कोमल भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं और शत्रुता का प्रारंभ हो जाता है। तुमने मेरी दोस्ती देखी है, अब मेरी दुश्मनी देखना ये फिल्मी डायलॉग चरितार्थ होने लगता है।

अहंकार

कई व्यक्तियों में अहंकार इस कदर भरा होता है कि जो लोग भी उनके संपर्क में आते हैं वे आहत हुए बिना नहीं रहते। किसी को पैसों का अहंकार होता है, तो किसी को विद्वता का। किसी को रूप का अहंकार होता है, तो किसी को बाहुबल का। किसी भी प्रकार का अहंकार हो वो रिश्तों को कमजोर करने और परस्पर वैर बढ़ाने का काम ही करता है। यदि हम चाहते हैं कि लोगों के बीच वैर-विरोध न पनपे तो हमें अपने अहंकार पर लगाम लगानी ही होगी। हमारे मन में सभी के प्रति सद्भावना व प्रेम-भाव का संचार होना अनिवार्य है। सबको बराबर का समझकर महत्त्व देना चाहिए। हमारा अहंकार और हम एक दिन मिट्टी में मिल जाएँगे, लेकिन इसकी वजह से जो वैमनस्य और विरोध उत्पन्न होगा वो दीर्घजीवी होकर आगे भी नुकसान ही पहुँचाता रहेगा।

> **किसी भी प्रकार का अहंकार हो वो रिश्तों को कमजोर करने और परस्पर वैर बढ़ाने का काम ही करता है। यदि हम चाहते हैं कि लोगों के बीच वैर-विरोध न पनपे तो हमें अपने अहंकार पर लगाम लगानी ही होगी। हमारे मन में सभी के प्रति सद्भावना व प्रेम-भाव का संचार होना अनिवार्य है। सबको बराबर का समझकर महत्त्व देना चाहिए।**

ईर्ष्या

दूसरों की समृद्धि को देखकर जलन अथवा ईर्ष्या के कारण भी वैर-भाव का विस्तार स्वाभाविक है। जो लोग हमसे हर हाल में बेहतर कर रहे हैं अथवा हमसे अच्छी स्थिति में हैं उनके प्रति ईर्ष्या-भाव के कारण यदि हम उन्हें कमतर या नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं अथवा उनका अन्य किसी भी प्रकार से नुकसान करते हैं तो ये स्थितियाँ उजागर होते देर नहीं लगती और इससे आपसी मन-मुटाव और वैर ही बढ़ता है। यह वैर कब विस्फोटक रूप ले लेता है पता भी नहीं चलता। हमें चाहिए कि दूसरों की उन्नति को देखकर जलने की बजाय उनकी खुशी में सम्मिलित होकर स्वयं आनंदित हों। ईर्ष्या में गलत कदम उठाने की बजाय उनसे प्रेरणा लेकर स्वयं उन जैसा समृद्ध और सफल बनने का प्रयास करें।

दूसरों को अपमानित करना

कहावत है कि तलवार का घाव भर जाता है, लेकिन अपमान का घाव कभी नहीं भरता। अतः बिना बात किसी व्यक्ति का अपमान करके हम उसे हमेशा के लिए अपना शत्रु बना लेते हैं। यह आवश्यक है कि किसी से मजाक करते समय भी मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए और किसी छोटी-मोटी बात के लिए ही नहीं किसी बड़ी बात के लिए भी किसी का अपमान नहीं करना चाहिए। किसी को कोई अप्रिय बात कहनी भी हो तो अपमान करने के लहजे में नहीं, अपितु अगले के सम्मान की रक्षा करते हुए नम्रतापूर्वक कहनी चाहिए।

दूसरों को कमतर सिद्ध करने का प्रयास

कई लोग हमेशा दूसरों को नीचा दिखाने के प्रयास में लगे रहते हैं जो न केवल गलत है, अपितु कालांतर में वैर-विरोध का कारण भी बन जाता है। कई लोग दूसरों को बोलने ही नहीं देते सिर्फ अपने व अपने परिवार के सदस्यों के गुणगान में लगे रहते हैं। किसी अभावग्रस्त व्यक्ति के समक्ष अपनी समृद्धि का अत्यधिक वर्णन अथवा प्रदर्शन या अपनी अथवा अपने प्रियजनों की विद्वता, योग्यता अथवा गुणों का बार-बार बखान करना भी सामनेवाले को कमतर सिद्ध करने के समान ही होता है; जो वैर-विरोध बढ़ाने के साथ-साथ घातक भी हो सकता है। दूसरों की हर बात को काटना अथवा उनके हर कार्य अथवा फैसले में कमियाँ निकालना भी ठीक नहीं। विशेष रूप से जब वे सामान्य अथवा ठीक-ठाक हों।

दूसरों से अत्यधिक अपेक्षाएँ रखना

हम प्रायः दूसरों से बहुत अधिक अपेक्षाएँ रखते हैं। कई बार हम गलत अपेक्षाएँ भी रखते हैं। सभी लोग खूब काम करें और अनुशासित रहें। मैं चाहे जैसे करूँ बाकी लोग मेरी इच्छा के अनुसार सब काम करें। अत्यधिक अपेक्षाओं और गलत अपेक्षाओं के कारण ही हम लोगों को अपने विरुद्ध कर लेते हैं अथवा शत्रु बना लेते हैं। बच्चे पढ़ाई में ही नहीं खेल-कूद में भी अव्वल आएँ। चित्रकला, संगीत, नृत्य आदि में भी सबसे आगे रहें। हमारी पसंद का ध्यान रखें। अत्यधिक अपेक्षाओं के कारण हमारे अत्यंत निकट के व्यक्ति और कभी-कभी हमारे अपने बच्चे तक हमारे घोर विरोधी बन जाते हैं। वैर से बचने अथवा वैर को समाप्त करने के लिए घर के सदस्यों व अन्य परिचितों से हम अधिक अपेक्षाएँ न करें, तो हमारे संबंध अच्छे बने रह सकते हैं। हम लोगों से अधिक अपेक्षाएँ करने की बजाय यदि लोगों की अपेक्षाओं पर खरे उतर सकें तो पूरा परिदृश्य ही बदल जाए।

> **अत्यधिक अपेक्षाओं के कारण हमारे अत्यंत निकट के व्यक्ति और कभी-कभी हमारे अपने बच्चे तक हमारे घोर विरोधी बन जाते हैं। हम यदि घर के सदस्यों व अन्य परिचितों से अधिक अपेक्षाएँ न करें, तो हमारे संबंध अच्छे बने रह सकते हैं। हम लोगों से अधिक अपेक्षाएँ करने की बजाय यदि लोगों की अपेक्षाओं पर खरे उतर सकें तो पूरा परिदृश्य ही बदल जाए।**

दूसरों को स्वीकार न करना

दूसरों के कार्यों अथवा उनके अस्तित्व को स्वीकार न करना बहुत खतरनाक बात है। जब हम दूसरों के कार्यों अथवा उनके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करेंगे, तो वे लोग भी हमें क्यों स्वीकार करेंगे? यदि ऐसे लोगों से हमारा निकट का संबंध है तो वैर-विरोध का प्रारंभ होते देर नहीं लगती। हमें चाहिए कि हम दूसरों को न केवल स्वीकार करें अपितु उनको महत्त्व और सम्मान भी दें। तभी एक अच्छे समाज का निर्माण होकर वह अक्षुण्ण

बना रह सकता है।

किसी के मनोभावों को समझना

किसी के मनोभावों को ठीक से न समझ पाने के कारण भी वैर-विरोध प्रारंभ होना स्वाभाविक है। यदि हम उपचार के लिए कड़वी दवा देने वाले चिकित्सक को अपना शत्रु समझकर तदनुरूप व्यवहार करने लगेंगे तो उसका परिणाम सुखद नहीं होगा। बहुत से लोग हमारे शुभचिंतक होते हैं और इसीलिए हमारे हित की बात करते हैं, लेकिन कभी-कभी हम उनकी बातों का गलत अर्थ निकाल लेते हैं और उनके साथ विरोधियों या शत्रुओं जैसा व्यवहार करने लगते हैं। गलतफहमी में या बिना पर्याप्त कारण के होने वाले इस वैर-विरोध को रोकने के लिए हमें दूसरों की बातों और व्यवहार को ठीक से समझने का प्रयास करना चाहिए व जल्दबाजी में कोई फैसला लेकर उस पर कार्य करने से बचना चाहिए।

गलत आश्वासन

कई लोग बिना सोचे-समझे अथवा भावावेश में बड़े-बड़े वायदे कर बैठते हैं अथवा गलत आश्वासन दे देते हैं जिन्हें पूरा करना या तो असंभव होता है या अव्यावहारिक लेकिन लोग इन्हें सच मानकर इन पर विश्वास कर लेते हैं और बाद में बुरा-भला कहते हैं। हमें चाहिए कि न तो राजनीतिक जुमलेबाजी जैसी अव्यावहारिक बात कहें और न ऐसी अव्यावहारिक बातों पर यकीन करें।

सामान्य शिष्टाचार का अभाव व मनमानी करना

कई लोग बातचीत में सामान्य शिष्टाचार का पालन करने की बजाय दूसरों से बदतमीजी व उपेक्षा से पेश आते हैं और दूसरों की टाँग खींचने व उन्हें नीचा दिखाने में लगे रहते हैं। ऐसी स्थिति को कोई भला कब तक बर्दाश्त करता रहेगा। उचित व्यवहार की यही कमी दीर्घकाल में वैर का रूप ले लेती है। इससे बचने के लिए अनिवार्य है कि हम सदैव शिष्टाचार का पालन करें। लोगों की उपेक्षा करने अथवा उन्हें नीचा दिखाने की बजाय उनसे नम्रतापूर्वक आत्मीय व्यवहार करें।

किसी की छवि धूमिल करना अथवा चरित्रहनन करना

एक खुद्दार व्यक्ति कभी ये बर्दाश्त नहीं करेगा कि कोई उसकी छवि धूमिल करे अथवा उसके चरित्र या उसके व्यक्तित्व पर प्रहार करे। कई लोगों का काम ही यह होता है कि गुणवान लोगों में कमियाँ निकालकर उन्हें प्रचारित-प्रसारित करते रहते हैं। जो लोग अपनी छवि अथवा व्यक्तित्त्व के प्रति सचेत रहते हैं, साफ बात करते हैं और गलत बातों का स्पष्ट विरोध करते हैं यदि उन्हें अहंकारी, असहिष्णु अथवा अव्यावहारिक सिद्ध करने का प्रयास किया जाए, तो ऐसे में विरोध पनपना स्वाभाविक है। यदि हम चाहते हैं कि बिना बात के वैर-विरोध न बढ़े तो हमें भूलकर भी न केवल किसी की छवि धूमिल करने अथवा किसी के व्यक्तित्व के हनन का कार्य नहीं करना चाहिए, अपितु लोगों के व्यक्तित्व के प्रभावशाली बिंदुओं को रेखांकित कर उनकी प्रशंसा करनी चाहिए। यदि हम उन विशेषताओं से रहित हैं तो हमें स्वयं में उन विशेषताओं को उत्पन्न करने का प्रयास करना चाहिए।

ये बहुत ही सामान्य-सी बातें हैं जिनका पालन कर हम वैर-विरोध से बचे रहकर अपेक्षाकृत एक अच्छा जीवन व्यतीत कर सकते हैं, लेकिन कभी भी किसी से वैर न हो यह भी असंभव है। किसी भी प्रकार का मन-मुटाव अथवा वैर होने की दशा में कुछ लोग तो उपर्युक्त व्यावहारिक नियमों का पालन करके स्थिति को सामान्य करने में विश्वास रखते हैं जबकि कुछ लोग ईंट का जवाब पत्थर से देने में विश्वास रखते हैं। वे वैर को वैर से दबाने या समाप्त करने का प्रयास करते हैं। क्या वैर को वैर से शांत किया जा सकता है?

धम्मपद में कहा गया है, ''न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचनः'' अर्थात् इस संसार में वैर से वैर कभी शांत नहीं होता। इसी प्रकार अन्य नकारात्मक वृत्तियों से नकारात्मकता का समापन नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार प्रतिशोध से प्रतिशोध, क्रोध से क्रोध, घृणा से घृणा अथवा हिंसा से हिंसा को नहीं मिटाया जा सकता है उसी प्रकार वैर से वैर नहीं समाप्त किया जा सकता, संबंधों को नहीं सुधारा जा सकता। हाँ, इस गलत प्रयास में हम अपने स्तर से अवश्य गिर जाते हैं। बुराई को बुराई से जीतना असंभव है फिर हम क्यों बुराई को जीतने के लिए बुराई का सहारा लें? बदले की भावना या बदला लेने की इच्छा अथवा वैर स्वयं में एक हानिकारक तत्त्व है।

महाभारत में महर्षि भरद्वाज के पुत्र द्रोणाचार्य की कथा मिलती है जिन्होंने कौरव और पांडव राजकुमारों को धनुर्विद्या का प्रशिक्षण दिया और अंत में कुरुक्षेत्र के युद्ध में धृष्टद्युम्न के हाथों मारे गए। आश्चर्य का विषय द्रोणाचार्य की मृत्यु नहीं लेकिन अजेय योद्धा महारथी द्रोणाचार्य अपने आश्रम के सहपाठी द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न के हाथों क्यों मारे गए यह अवश्य विचारणीय है। भरद्वाज आश्रम में आचार्य द्रोण और पांचाल नरेश के पुत्र द्रुपद साथ-साथ शिक्षा ग्रहण करते थे। दोनों अच्छे मित्र बन गए। मित्रता इस स्तर तक पहुँच गई कि एक दिन द्रुपद ने द्रोण से कहा कि जब वह पांचाल देश का राजा बनेगा तो आधा राज्य उसे दे देगा।

शिक्षा पूर्ण होने पर दोनों ने अपने-अपने घर की राह ली। द्रोण का विवाह हुआ और उसका एक पुत्र हुआ जिसका नाम रखा गया अश्वत्थामा। द्रोण अपने परिवार को बहुत प्यार करते थे और उन्हें सुखपूर्वक रखना चाहते थे, लेकिन यह संभव नहीं था क्योंकि द्रोण बहुत गरीब थे। कालांतर में द्रुपद पांचाल राज्य के सिंहासन पर बैठा। यह जानकर द्रोण बड़ा प्रसन्न हुआ और वह द्रुपद से मिलने पांचाल जा पहुँचा। वहाँ पहुँचने पर आधा राज्य अथवा सहायता तो दूर अपितु द्रुपद के हाथों अपमानित और लज्जित होना पड़ा। द्रुपद ने कहा कि मित्रता बराबर वालों में होती है। अपमानित द्रोण खून का घूँट पीकर रह गया। उसके मन में प्रतिशोध की ज्वाला भड़क उठी।

बाद में आचार्य द्रोण हस्तिनापुर में राजकुमारों को धनुर्विद्या सिखाने लगे और शिक्षा पूरी होने के उपरांत गुरु दक्षिणा के रूप में पांचाल नरेश द्रुपद को कैद करके लाने को कहा। अर्जुन ने द्रुपद को पराजित करके उसे मंत्री सहित कैद कर लिया और आचार्य द्रोण के सम्मुख लाकर खड़ा कर दिया। द्रोण ने यद्यपि उसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाई और उसकी पराजय को अपना प्रतिशोध पूरा हुआ मानकर द्रुपद को सम्मान के साथ विदा कर दिया, लेकिन द्रुपद इस अपमान को सहन न कर सका। वह घृणा से भर उठा और वह भी बदले की आग में झुलसने लगा। द्रुपद ने अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना लिया द्रोण से बदला लेना। द्रुपद ने कठोर तप और व्रत किए ताकि उसके ऐसा शक्तिशाली पुत्र हो जो द्रोण का वध कर सके। उसकी कामना पूर्ण हुई। उसके पुत्र धृष्टद्युम्न ने कुरुक्षेत्र के युद्ध में आचार्य द्रोण का वध किया।

क्या द्रोण की इस प्रकार की मृत्यु के लिए द्रोण स्वयं उत्तरदायी नहीं? क्या इसके मूल में द्रोण का द्रुपद के प्रति वैर अथवा द्रोण की लालसा, असहिष्णुता व बदले की भावना विद्यमान नहीं? माना द्रुपद ने उत्साहातिरेक, आवेश अथवा बड़प्पन की भावना से आधा राज्य देने का आश्वासन दे डाला, लेकिन क्या मित्रों के बीच इस प्रकार का बँटवारा व्यावहारिक है? क्या भावावेश में किया गया यह निर्णय अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता? अपने परिवार के लिए सुख-

सुविधाएँ जुटाने की कामना में एक राजा के सामने मित्रता का वास्ता देकर क्या द्रोण ने अपनी स्वयं की गरिमा को ठेस नहीं पहुँचाई? जब एक राजा ने गरीब ब्राह्मण को मित्र स्वीकार करने से मना कर दिया तो वह अपमान से भर उठा। आखिर क्यों?

आज दुनिया में अनेक लोग दूसरों को सब्ज-बाग दिखाते हैं और असंख्य लोग उनके झाँसे में आकर लुट-पिटकर चुपचाप बैठ जाते हैं। यह उनके लोभ का ही तो परिणाम होता है। बिना कमाए या कम मेहनत करके धनी होने की आकांक्षा ही तो होती है। बिना कमाए या कम मेहनत करके सुखपूर्वक जीने की लालसा ही तो होती है। यही तो द्रोण की भी चाहत थी। पर क्या यह स्वाभाविक है? क्या यह उचित है? क्या इससे मनुष्य का स्वाभाविक विकास संभव है? इस प्रकार की असंख्य अस्वाभाविक कामनाएँ, लालसाएँ व वासनाएँ ही मनुष्य के पतन का कारण बनती हैं इसमें संदेह नहीं। फिर बदले की भावना अग्नि में घृत का कार्य करती है।

द्रोण बदला लेना चाहता था। प्रतिशोध कभी पूर्ण नहीं होता। आज आप प्रतिशोध ले रहे हैं तो कल दूसरा प्रतिशोध ले रहा है। फिर आप पुनः प्रतिशोध की तैयारी में लग जाते हैं और ये सिलसिला कभी समाप्त नहीं होता। पूरा जीवन प्रतिशोध की अग्नि को समर्पित हो जाता है लेकिन फिर भी प्रतिशोध पूरा नहीं होता। मनुष्य समाप्त हो जाता है लेकिन प्रतिशोध नहीं क्योंकि यह पीढ़ियों तक चलता जाता है जिसमें अगली पीढ़ियाँ तक स्वाह हो जाती हैं। द्रोण का प्रतिशोध भी द्रुपद तक जाकर नहीं रुका और द्रुपद का प्रतिशोध भी द्रोण तक जाकर नहीं थमा। जो थम जाए वह प्रतिशोध ही कैसा?

अपने पिता द्रोण की मृत्यु से आहत अश्वत्थामा ने धर्म विरुद्ध रात्रि में सोते हुए धृष्टद्युम्न को पैरों से कुचलकर मार डाला और साथ ही द्रौपदी के पाँचों पुत्रों का भी वध कर दिया। इसके मूल में थी द्रोण की अदम्य लिप्सा। द्रोण की आधे राज्य को पाने अथवा कुछ सहायता की लिप्सा, कामनापूर्ति में बाधा से उत्पन्न अपमान-बोध, घृणा, अपमान-बोध और घृणा से उत्पन्न प्रतिशोध की भावना और फिर प्रतिशोध की पूर्ति पर दूसरे पक्ष की घृणा और बदले की भावना ने न केवल द्रुपद का अपितु स्वयं द्रोण का भी सर्वनाश कर डाला। इसके अभाव में संभव है महाभारत जैसा युद्ध होता ही नहीं और उस युद्ध से उपजी भयानकता देखने-सुनने में न आती जिसने धरती को श्रेष्ठ योद्धाओं से खाली कर दिया। गीता में कहा गया हैः

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादये।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः।।

मनुष्य को चाहिए कि वह अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे, क्योंकि मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है। वास्तव में बाहर कोई शत्रु नहीं है। मनुष्य स्वयं अपना शत्रु है। यदि मनुष्य स्वयं अपना शत्रु है, तो अपना मित्र भी है और यह शत्रुता और मित्रता मात्र भावों की है। उदात्त सकारात्मक भावों द्वारा मनुष्य स्वयं का मित्र है अन्यथा स्वयं का शत्रु। यदि हम संसार को वैर-भाव से मुक्त करना चाहते हैं तो हमें अपने मन को मित्र बनाना होगा, उसमें शत्रुता का चिंतन समाप्त कर उसे मैत्री व करुणा के भावों से आप्लावित करना होगा। एक बार मन इसके लिए सध गया तो बाहरी जगत् में भी कोई शत्रु बाकी नहीं बचेगा इस बात की गारंटी है।

(लेखक मनोवैज्ञानिक विषयों के लेखक हैं।)

मनोगत

मान्यवर,

आपको श्री गुरु पूर्णिमा, स्वतंत्रता दिवस, रक्षा बंधन व श्रीकृष्ण जन्माष्टमी की हार्दिक शुभकामनाएँ। ये पर्व आपके और आपके परिवार के लिए मंगलमय हों। इस अवसर पर 'मंगल विमर्श' का जुलाई-2019 अंक आपके हाथों में समर्पित करते हुए अति आनंद की अनुभूति हो रही है।

मंगल सृष्टि द्वारा आयोजित की जानेवाली गोष्ठियों के क्रम में 26 मई, 2019 रविवार को आयोजित 'भारत और भारत का राष्ट्रधर्म' विषयक गोष्ठी में मुख्य वक्ता श्री आनन्द आदीश ने बताया कि इस देश का नाम भारत, हिंदुस्तान और इंडिया क्यों पड़ा। उन्होंने बताया कि हमारे ऋषि-मुनियों ने बहुत पहले ही भारत की भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता का दिग्दर्शन कर व्यक्तिगत आचरण की महत्ता प्रतिपादित की थी। विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत को हर तरह से तोड़ने और नष्ट करने के प्रयास किए। उन्होंने बताया कि किस प्रकार भारत की सांस्कृतिक चेतना और हमारा आचरण वैशिष्ट्य ही भारत का राष्ट्रधर्म है। इस अवसर पर उनके द्वारा पठित आलेख को इसी अंक में अविकल प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस अवसर पर भारत के पूर्व राजदूत श्री वी.पी. गुप्ता, डॉ. निर्मल खंडेलवाल, श्री सारस्वत मोहन मनीषी व श्री जय किशन ने भी अपने विचार व्यक्त किए।

गोष्ठी के अध्यक्ष श्री ओमीश परुथी ने कहा कि सभी विद्वान वक्ताओं ने भारत एवं उसके राष्ट्रधर्म के संबंध में महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किए हैं। राष्ट्र की भारतीय अवधारणा पश्चिम से भिन्न है। भारत में राष्ट्र की परिकल्पना उतनी ही प्राचीन है जितना वेद। हिंदू धर्म का अर्थ केवल पूजा करना नहीं है बल्कि यह एक जीवन दृष्टि है, जीवनशैली है। भारत में कई बार 'गंगा-यमुनी तहजीब' और 'ईश्वर अल्लाह तेरे नाम' की बात की जाती है। हिंदू तो इन बातों को कहता है परंतु प्रश्न यह है कि क्या ईसाई और इसलाम मतावलंबी इस बात को मानते हैं? उनका अन्य धर्मों के प्रति अनुदार दृष्टिकोण है ।

आज भारत की स्थिति विकट है। राष्ट्रप्रेम व देशानुराग का अभाव है। इसीलिए इस देश से भ्रष्टाचार का अंत नहीं हो पा रहा है। अधिसंख्य भारतवासी राष्ट्रहित का स्खलन देख कर चुप्पी साध लेते हैं। फलतः देश का सही अर्थ में विकास नहीं हो पा रहा। देशानुराग, देश से अभिन्नता की आज परम आवश्यकता है। भारत का राष्ट्रधर्म, भारत की संस्कृति और उसकी मान्यताओं से ही निर्धारित होता है।

राष्ट्र एक सांस्कृतिक अवधारणा

इस अवसर पर मंगल सृष्टि के अध्यक्ष डॉ. बजरंग लाल गुप्ता ने कहा कि भारत और उसके राष्ट्रधर्म के विषय में देश में जो संभ्रम पैदा हुआ है वह वास्तव में देश, राज्य और राष्ट्र को ठीक से न समझ पाने के कारण हुआ है। उन्होंने कहा कि देश एक भौगोलिक अवधारणा है और राज्य राजनीतिक अवधारणा है और राष्ट्र सांस्कृतिक अवधारणा है। पश्चिम को न तो देश समझ में आया, न राज्य और न ही राष्ट्र। इसीलिए उन्होंने 'नेशन स्टेट' की अवधारणा को जन्म दिया।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारत में राष्ट्र को देखने और समझने का दृष्टिकोण क्या है? राष्ट्र के चार अवयव हैं–

1. किसी भी राष्ट्र के लिए भूखंड चाहिए। इस भूखंड की सीमाएँ काल व परिस्थिति के अनुसार कम या ज्यादा हो सकती हैं।

2. भूखंड में रहने वाला जन समाज। जन समाज का तात्पर्य है ऐसा जन समाज जो स्वयं को इस देश का पुत्रवत् माने। देश को अपनी माता माने। देश में जबरन घुस आए लोग देश का जन समाज नहीं कहे जा सकते।

3. संस्कृति – राष्ट्र की व्याख्या करना यद्यपि कठिन है। राष्ट्र के आध्यात्मिक तत्त्व को मंदिर में स्थापित कर इसका साक्षात्कार किया जा सकता है।

अमेरिका में वर्ल्ड ट्रेड टावर पर हुए आतंकी हमले के बाद वहाँ भय का माहौल बन गया था। लोग स्वयं को असुरक्षित मानने लगे थे और अमेरिका से बाहर जाने के बारे में सोचने लगे थे। ऐसी परिस्थितियों में वहाँ एक बहस चली 'हू आर वी'(हम कौन हैं)। प्रश्न उठा कि अमेरिकी होने का अर्थ क्या है। उस समय अमेरिकी लेखक सैमुवल हैमिंग्टन ने एक पुस्तक लिखी 'हू आर वी' इसमें हैमिंग्टन ने कहा कि ''हम अमेरिकन अँग्रेजी भाषी, प्रोटेस्टेंट संस्कृति के वाहक हैं।''

उन्होंने कहा जबतक इस देश में 'प्रोटेस्टेंट कल्चर' को मानने वाला एक भी व्यक्ति है तब तक 'अमेरिका' है। इसी प्रकार जबतक भारत भू पर हिंदू संस्कृति को मानने वाले लोग हैं तब तक भारत राष्ट्र है।

4. समान अनुभूति – इस भारत भू पर रहने वाले जन में शत्रु-मित्र के प्रति समान अनुभूति का होना आवश्यक है। वास्तव में जो कोई किसी आक्रमणकारी को अपना आदर्श मानकर चलता हो उसका इस भूभाग पर रहने वालों के साथ समान शत्रु-मित्र भाव नहीं हो सकता। राष्ट्रीय भावना के लिए संपूर्ण समाज में जय-पराजय का समान भाव होना चाहिए। जहाँ ये चार बातें होती हैं वहाँ ही 'राष्ट्र' प्रत्यक्ष होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है–

परित्राणाय साधुनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामी युगे- युगे।।

उक्त श्लोक में कहा गया है कि भगवान्, साधुओं की रक्षा और दुष्टों के विनाश और धर्म की स्थापना के लिए, हर युग में अवतरित होते हैं। यहाँ साधुनाम् का अर्थ एक तो सज्जन और धर्मनिष्ठ व्यक्तियों के लिए हैं और दूसरे जो संस्थाएँ व संस्थान समाज हित में श्रेष्ठ कार्य कर रहे हैं उनकी भी रक्षा। हर देश में समाज को चलाने के लिए व्यवस्थाएँ होती हैं। इन व्यवस्थाओं के बिना कोई राष्ट्र सुचारू रूप से नहीं चल सकता इसलिए इन व्यवस्थाओं की रक्षा करने का दायित्व भी 'परित्राणाय च साधुनाम्' के अतंर्गत ही आता है।

उक्त श्लोक में कहा गया है 'विनाशाय च दुष्कृताम्' अर्थात् उन दुष्टों का विनाश करना जो सज्जन व्यक्तियों और राष्ट्र को क्षति पहुँचाते हैं, उसे नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयास करते हैं। जब साधुओं की रक्षा होगी और दुष्टों का विनाश होगा तब धर्म की स्थापना स्वतः ही होगी। यहाँ धर्म का अर्थ मजहब से नहीं है वरन् आचरण संहिता से है।

इस मातृभूमि के प्रति निष्ठा के संबंध में परमपूज्य श्री गुरुजी कहते थे कि मातृभूमि के प्रति व्यक्ति में 'अव्यभिचारी निष्ठा' होनी चाहिए, अर्थात् मातृभूमि के प्रति कोई सौदेबाजी वाली निष्ठा नहीं चलेगी। बल्कि मातृवत् भाव की निष्ठा होनी चाहिए।

वेदों में कई स्थानों पर राष्ट्र का उल्लेख आया है। यजुर्वेद में राष्ट्र के संबंध में बहुत से विचारे हैं। अथर्ववेद में 'माता भूमि पुत्रोऽम् कहा गया है।

स्नेहाकांक्षी
आदर्श गुप्ता
प्रबंध संपादक

सहयोगी वृंद

1. **श्री राजीव माहेश्वरी**
बी-2/123-124, सेक्टर-6,
रोहिणी, दिल्ली - 110085

2. **श्री राम चंद्र**
डी-7/38, सेक्टर-6,
रोहिणी, दिल्ली - 110085

3. **श्री राजेश चौरसिया**
बी-3/300, सेक्टर-6,
रोहिणी, दिल्ली - 110085

4. **श्री राजेश जैन**
डी-6/66, सेक्टर-6,
रोहिणी, दिल्ली - 110085

5. **श्री प्रवीण मित्तल**
डी-4, पुष्पांजलि एन्क्लेव
पीतम पुरा , दिल्ली - 110034

6. **श्री सुनील अटरेजा**
डी- 6/259, सेक्टर -6,
रोहिणी, दिल्ली - 110085

7. **श्री नीरज गुप्ता**
एफ-1/148 सेक्टर-11
रोहिणी, दिल्ली - 110085

8. **श्री ईश्वर मित्तल**
ई-3/19 सेक्टर-11
रोहिणी, दिल्ली - 110085

9. **श्री शैलेश शर्मा**
ए -3/42 सेक्टर-11
रोहिणी, दिल्ली - 110085

10. **श्री पुनीत जैन**
ए-3/38 सेक्टर-11
रोहिणी, दिल्ली - 110085

11. **श्री तुषार जिंदल**
मकान नं9 47, चारधाम अपार्टमें
सेक्टर-9, रोहिणी, दिल्ली - 110085

12. **श्री ओम प्रकाश ग्रोवर**
ए -2/220 सेक्टर-11
रोहिणी, दिल्ली - 110085

13. **श्री सुशांत अरोड़ा**
ए-36, तुलसी अपार्टमेंट, प्लाट नं 14,
सेक्टर-14, रोहिणी, दिल्ली - 110085

मंगल विमर्श

सदस्यता -प्रपत्र

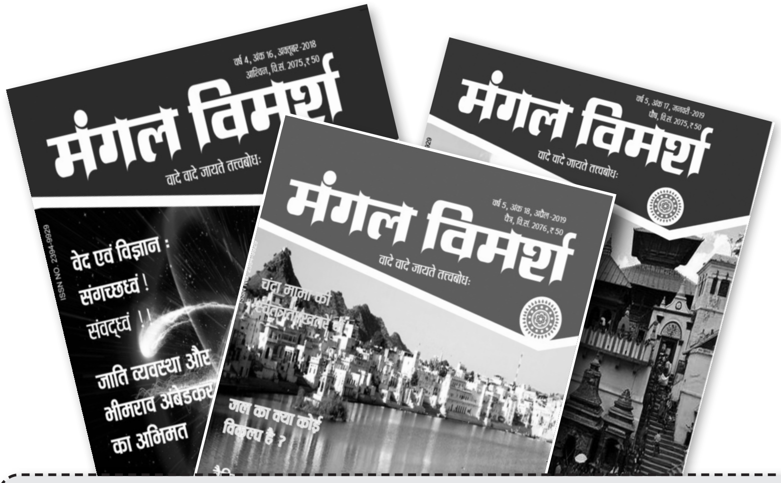
मंगल विमर्श
वादे वादे जायते तत्वबोधः
वेद एवं विज्ञान : संगच्छध्वं ! संवद्ध्वं !
जाति व्यवस्था और भीमराव अंबेडकर का अभिमत
जल का क्या कोई विकल्प है ?

मंगल विमर्श **त्रैमासिक पत्रिका**

मुख्य संरक्षक
डॉ. बजरंग लाल गुप्ता

प्रधान संपादक
ओमीश परुथी

संयुक्त संपादक
डॉ. रवींद्र अग्रवाल

प्रबंध संपादक
आदर्श गुप्ता

सदस्यता -शुल्क

10 वर्षों के लिए ₹2000 मात्र

मंगल विमर्श की.......................... वर्षों की सदस्यता हेतु.......................................
रुपये का ड्राफ्ट/ चैक क्रं. .... दिनांक...
बैंक.. भेज रहे हैं,
कृपया.. वार्षिक सदस्य बनाने का कष्ट करें।

नाम..
पता...
....
.... पिनकोड ....
फोन :...................................... मोबाइलः...
इ-मेल...

पत्रिका सदस्यता शुल्क हेतु
मंगल सृष्टि (Mangal Srushti)
के नाम चैक/ ड्राफ्ट सी-84, अहिंसा विहार,
सेक्टर-9, रोहिणी, दिल्ली- 110085 पर भेजें।
फोन नं. +91-9811166215,
+91-11-42633513

ई-मेल mangalvimarsh@gmail.com **वेब साइट** www.mangalvimarsh.in